# 1857 का हिंदी समाज

## (किस्सा सीताराम, माझा प्रवास और रसेल की इंडियन म्यूटिनी डायरी के विशेष संदर्भ में)

जे.एन.यू. की एम.फिल. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
लघु शोध-प्रबंध


शोध-निर्देशक
**डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा**

शोधार्थी
**सौरभ द्विवेदी**

**भारतीय भाषा केंद्र**
**भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान**
**जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय**
**नई दिल्ली- 110067**



**2009**

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
**JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY**
**Centre of Indian languages**
**School of language, Literature & Culture Studies**
**NEW DELHI – 110067, INDIA**

Date: 20/07/2009

# DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled "1857 KA HINDI SAMAAJ, (KISSA SITARAM, MAJHA PRAVAAS AUR RUSSEL KE INDIAN MUTINY DIARY KE VISHESH SANDARBH MEIN)" ( Hindi Society of A.D. 1857, with special reference to Kissa Sitaram, Majha Pravaas and Russel's Indian Mutiny Diary) by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Saurabh Dwivedi
(Research Scholar)

Dr. Raman Prasad Sinha
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Chamanlal
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

# समर्पण...

1857 के उन शहीदों को जिनके नाम, धाम और काम हमें नहीं पता, मगर आजादी की जिस हवा में हम सांस ले रहे हैं, उसमें उनके बलिदान का सौरभ है।

और मेरे पापा को, जो मेरे लिए सबसे बढ़कर हैं।

# अनुक्रम


| | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| आभार | 2-6 |
| भूमिका | 7-12 |
| अध्याय–1<br>1857 का परिप्रेक्ष्य | 13-40 |
| अध्याय-2<br>1857 का विद्रोहः स्वप्न, यथार्थ और ऐतिहासिकता | 40-82 |
| अध्याय-3<br>1857 का विद्रोह- लोकजीवन | 83-104 |
| अध्याय-4<br>संस्मरणः शैली और भाषा | 105-119 |
| उपसंहार | 120-122 |
| ग्रंथानुक्रमणिका | 123-125 |

# आभार

जितना भी जीवन और जैसा भी जीवन अब तक जिया है, उसमें जिन लोगों का योग है, उनका आभार प्रकट करने के लिए दो शब्द तो क्या दो जीवन भी कम पड़ जाएं। मगर अकादमिक रवायत है, इसलिए कुछ ही शब्दों में उन सभी को अपनी विनम्रता अर्पित करनी होगी।

इस शोध के निर्देशक हैं डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा। लाइब्रेरी के बगल के गलियारे से गुजरते हुए उनसे कहा था कि सर आपके साथ काम करना चाहता हूं और उन्होंने हमेशा की तरह अपनी शांत आंखे मुझ पर टिकाते हुए जवाब दिया था कि ठीक है, अभी तो समय है, देखते हैं। फिर जब मेरे बैच के स्टूडेंट्स का रेला उनके निर्देशन में शोध करने के लिए उमड़ा, तो अंत में मेरी बारी आई। सर बोले कि पहले से ही बहुत स्टूडेंट्स हो गए हैं और मुझे गलियारे में की गई बातचीत के सहारे अपना दावा मजबूत करना पड़ा। अंततः सर मान गए, यह जानते-समझते हुए भी कि यह स्टूडेंट लापरवाह किस्म का है और प्रायः समय पर अपने असाइनमेंट जमा नहीं कर पाता। डॉ. सिन्हा के लिए वही बात लिखूंगा, जो हमेशा से महसूस करता आ रहा हूं। उनसे मैंने सीखा कि ज्ञान शोर नहीं मचाता, बल्कि एकांत में अपनी धुन में लीन रहता है, ठीक उनके चैंबर की तरह, जिसमें रखे कंप्यूटर से हमेशा कोई पुराना राग हवा में तैरता रहता है। रमण सर ने न सिर्फ मेरा निर्देशन किया, बल्कि अपने धैर्य को भी मेरे प्रति बनाए रखा। उनकी अमूल्य राय और शोध में दिलचस्पी की वजह से ही काम में गति बनी रही और अब नतीजा आपके सामने है। उन्हें धन्यवाद कहकर आगे नहीं बढ़ूंगा क्योंकि इस शब्द में एक आधुनिक किस्म की औपचारिकता है। शब्द के सही अर्थों में इस गुरु को नमन।

असहमति का साहस और सहमति का विवेक हासिल करने में मदद करने वाले भारतीय भाषा केंद्र के प्रोफेसर मैनेजर पांडे, प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल और प्रोफेसर वीरभारत तलवार को भी इस मौके पर याद करना लाजमी है। इन तीनों का ही मुझे स्नेह और मार्गदर्शन मिला। पांडे जी ने एमए के दौरान मेरी तमाम गलतियों को नजरअंदाज किया और हमेशा अपना अनुराग मुझ पर बनाए रखा। अग्रवाल सर ने मुझे हिंदी साहित्य के परे जाकर पढ़ने, जानने और समझने के लिए उकसाया, मेरी सोच के कैनवस को बड़ा करने में मदद की और तमाम वैचारिक असहमितयों के बावजूद तलवार जी ने मेरी सोच का न सिर्फ मान रखा, बल्कि प्रशंसा की खुराक देकर मेरे उत्साह और मौलिकता को भी

पल्लवित किया।

आज इस मौके पर वे तमाम अध्यापक याद आ रहे हैं, जिन्होंने साहित्य नाम की दुनिया में प्रवेश का पासवर्ड बताया। बोर्डिंग स्कूल के अध्यापक श्री महेंद्र नाथ दुबे सुमन, जिनकी वजह से साइंस का स्टूडेंट होने के बावजूद मैं साहित्य से साझा कायम कर सका। उनकी डायरी में मुझ से जुड़े संस्मरण की याद आज भी मन को गुदगुदा जाती है। इसी तरह से ग्रेजुएशन के दिनों की मेरी अध्यापिका अपर्णा खरे, जिनकी वजह से मैं साहित्य के वृहत्तर परिवेश को समझ सका। उन्होंने मुझे जीवन को यूटर्न देने यानी जेएनयू की प्रवेश परीक्षा की तैयारी में भरपूर मदद की। बीएससी के आखिरी दिनों में उनके घर का वो कोना मेरा सबसे प्रिय स्थान था, जिसके सामने पुराने बरगद के पेड़ पर पक्षियों का कलरव शाम के दरबार में संगीत घोलता था। उस जगह मैंने खुद को उघाड़ कर रख दिया था। बहरहाल।

मेरे व्यक्तित्व की निर्मिति में आज जिसका सबसे ज्यादा योगदान है और शायद हमेशा रहेगा, वह कोई व्यक्ति नहीं बल्कि संस्था है। अपनी तमाम विचित्रताओं और वैशिष्ट्य के साथ जेएनयू ने मेरे अंदर की आग को हवा-पानी मुहैया कराया। इस कैंपस में रहकर मैंने जाना कि जीवन सिर्फ दो और दो चार नहीं होता। कि जीवन सिर्फ मैं की जद्दोजहद नहीं होती बल्कि ममेतर तक जाने की कोशिश होती है और इस इतर में वे सब आते हैं, जो हमारे जीवन को अपने-अपने तईं बेहतर बनाते हैं। फिर चाहे वह प्रकृति हो या सड़क बुहारता कोई सफाईकर्मचारी। अपने परिचय के साथ जेएनयू जोड़ने पर कैसे उल्लास और गर्व का अनुभव होता है, इसे यहां पढ़ने वाले तो जानते ही हैं, मगर कितनी शिद्दत और मुद्दत के बाद परिचय का यह विस्तार हासिल होता है, इसे उनसे पूछिए जो यहां पढ़ना चाहते थे, मगर ऐसा हो न सका।

आभार के क्रम में अगला नंबर आता है भारतीय भाषा केंद्र में मिले सहचरों का। अलग-अलग पृष्ठभूमि से आते तमाम लड़वैये, जिनमें से कोई राजनीति का धुरंधर है, तो कोई कलेक्टरी के अरमान लिए आ पहुंचा है शिक्षा के इस भारतीय मक्का में। सबसे पहले जेएनयू के अपने सबसे अच्छे दोस्त शीतांशु कुमार के बारे में, जिसे अपने शीत कहकर पुकारते हैं। बस इतना ही कहूंगा कि उसकी मित्रता मेरी अनन्य उपलब्धि है। मुस्कराता, उलाहना और शाबासी देता शीत मेरा दोस्त ही नहीं कई मायनों में पथप्रदर्शक भी है। शोध के दौरान उसने अपने तईं मेरी हर संभव मदद की। मगर कोई धन्यवाद नहीं, सिर्फ स्नेह रस से भीगे एक आलिंगन से ही काम चल जाएगा। शीत की बात हो और विभा का जिक्र न आए, तो बात कुछ अधूरी सी लगती है। उसके साथ शरारत करने का अपना ही लुत्फ है। कभी नरेंद्र मोदी तो कभी राखी सावंत के नाम पर विभा से बहस करना

थकान दूर करने का एक बेहतर तरीका हो सकता है, यह मैं अपने अनुभव से जानता हूं। विभा, तुम्हारे होने के लिए, खालिस अपने ही अंदाज के साथ, शुक्रिया।

नीलांबुज जी, अपने असीमित धैर्य के साथ कवियों के प्रिय और इसी वजह से मेरी झिड़कियों का शिकार होते। मगर विशद रूप से एक सच्चे शोधार्थी और हां कच्चेपन के तमाम जोखिमों के साथ बहुत ईमानदार भी। आपके स्नेह के लिए आभारी हूं।

भाभाके और ऐसे ही तमाम टर्म क्वॉइन करने वाले मुकेश जी मेरे मित्र भी हैं, अनुज भी और हां तकनीकी पदावली में जूनियर भी। राम-रहीम और लंबू-मोटू की तरह उनके साथ जुगलबंदी गांठते हैं उमाशंकर मिश्र। दोनों ही मेरे परांठा मित्र हैं और उनका साथ खासा घटनाप्रधान होता है। आपके स्नेह के लिए साधुवाद।

मेरे इस हिंदी परिवार के बाकी सदस्य हैं, चंदन, जिनकी चिंताएं मुझे रिश्तों के प्रति आसक्त करती हैं, अजय, जिसने मेहनत शब्द का एक देसज मुहावरा गढ़ा और जो एमए के दिनों में मेरा पड़ोसी भी था, अभिषेक जी, जिनके साथ क्लासमेट होने के बावजूद उनके व्यक्तित्व की गरिमा की वजह से जी खुदबखुद जुड़ जाता है और अंत में अमिष, जिसके साथ मेरा सालों पुराना झगड़ा है, मगर यही झगड़ा और नोंक-झोंक हमारे संबंधों की ऊर्जा का अक्षय स्रोत भी है। मेरे जूनियर से कहीं बढ़कर छोटे भाइयों जैसे अजीत, प्रमथेश और व्योमकेश, जिनसे मैंने जाना कि बनारसी होना किसे कहते हैं। इसके अलावा जिस एक शख्स की मित्रता मैंने ब्रह्मपुत्र हॉस्टल में रहने के दौरान हासिल की, वह हैं पॉलिटिकल साइंस में पीएचडी कर रहे मेरे बंधु विकास त्रिपाठी। आप सभी को नेह।

आज अगर यह शोध तमाम आलस के बावजूद पूरा हो रहा है, तो इसमें एक और संस्थान और वहां बिताए गए दिनों की अन्यतम भूमिका है और यह संस्थान है इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ मास कम्युनिकेशन (आईआईएमसी)। यहां से पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त करने की वजह से ही मैं लैपटॉप पर सरपट हिंदी में टाइप कर सकता हूं और इस वजह से मेरी तमाम मुश्किलें आसान हुई हैं। आईआईएमसी में पढ़ने के दौरान ही मैं अपनी सबसे अच्छी दोस्त, सबसे निर्मम आलोचक गुंजन से मिला। इस शोध को पूरा होते देख मुझसे ज्यादा राहत की सांस गुंजन ने ली है और मेरी इस मेहनत का पुरस्कार मुझे उसकी आंखों की चमक में मिल जाता है। गुंजन को धन्यवाद देना अपने आत्म के विस्तार को धन्यवाद देने जैसा होगा और तमाम किंतु-परंतुओं के बावजूद यह गुस्ताखी मुझसे नहीं होगी। आईआईएमसी के दौरान ही हमारा एक ग्रुप बना था, जिसे हम पांच कहा जाता था। वक्त बीतने के साथ यह पांच से छह लोगों के समूह में तब्दील हो गया,

जिसके सभी सदस्य कभी न कभी पत्रकार रहे या अभी भी हैं। सैम-शिव (सहीम सलीम और शिवानी काला), चतुर (सौरभ चतुर्वेदी), गुंजन और अंत में लाली (रायना पांडे), जिसकी जैसी बेटी पाने की प्रार्थना मैं ईश्वर से करता हूं। इस ग्रुप से अलग भी मेरी एक बहुत अच्छी पत्रकार मित्र हैं, वंदना, जिसे मैं नाम से कम और छोटू कहकर ज्यादा बुलाता हूं। वंदना के सामने आत्म का परीक्षण करने में कभी हिचक नहीं होती। ये सब सुख-दुख के साथी ही नहीं, जीवन यात्रा के सहभागी भी हैं। इन्हें ढेर सारा प्यार, आभार कहकर जीवन भर के उलाहनों का बंदोबस्त नहीं करूंगा।

जीवन में स्नेह स्रोतों की आवश्यकता कितनी महती है, इसे मेरे जैसा भावुक इंसान ही जानता है। आत्मा की गहराइयों से मुझे स्नेह करने वाली मेरी दूसरी मां वीणा मैम, मेरी बहन श्रुति और मेरे अभिन्न मित्र गौरव को धन्यवाद नहीं सिर्फ उनके प्रति सम्मान।

इस शोध के दौरान कुछ लोगों ने भरपूर मदद की। मसलन, प्रसिद्ध इतिहासकार रामचंद्र गुहा ने न सिर्फ मेरे विषय में उत्साहवर्धक रुचि दिखाई, बल्कि रणजीत गुहा का निबंध द प्रोज ऑफ काउंटर इनसरजेंसी पढ़ने का सुझाव भी दिया। उनका सानिध्य मेरी बड़ी उपलब्धियों में से एक है। प्रसिद्ध फिल्मकार अनुराग कश्यप से मित्रता दिल्ली में रहने के दौरान आए यूरेका क्षणों में से एक है। अनुराग ने मेरे अंदर के लेखक को जितना कोंचा है, शायद और किसी ने नहीं। इसी तरह से मुझे बार-बार कुछ अलहदा सोचने-करने के लिए उकसाने वाला है आईआईटी दिल्ली का मित्र मयंक, जिसे हम प्यार से पोल्टू कहते हैं। मुझे पंजाब यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी से खोजकर रसेल की डायरी मुहैया कराने वाली दोस्त खुशबू। इन सभी को बहुत-बहुत धन्यवाद।

बुंदेलखंड का देसी छोरा होने के कारण और हिंदी मीडियम में पढ़ाई के कारण कॉन्वेंट में पढ़े और गिटिर-पिटिर अंग्रेजी बोलने वालों के प्रति एक आग्रह रहता था। जेएनयू आने के बाद इसमें कुछ कमी आई। मगर इसे पूरी तरह खत्म करने में गुंजन के मार्फत बने दोस्तों की अहम भूमिका रही। नम्रता, हमेशा मेरे लेखन को लेकर उत्साह दिखाती है। राजेश, मानस और अश्मिता *यो टाइप* भी हैं और साथ में उतने ही *कूल* और देसी भी। इन सबसे दोस्ती होने के बाद मैंने ढंग से जाना कि कॉन्वेंट में पढ़े लोग किसी दूसरे ग्रह के नहीं होते। सभी को *थैंक्स बडी* ।

शोध के दौरान जिन दो लोगों ने मुझे सहयोग दिया और जो ऊपर के सभी खांचों से अलग स्थान रखते हैं, वे हैं नवभारत टाइम्स के रेजिडेंट एडिटर मधुसूदन आनंद और

सीनियर असिस्टेंट एडिटर राजेश मित्तल। मेरे शोध में भरपूर रुचि और उसके लिए निरंतर परामर्श और सहयोग के लिए इन पिता और भातृतुल्य व्यक्तियों के प्रति मैं कृतार्थ हूं। नवभारत टाइम्स के ऑनलाइन संस्करण के एडिटर नीरेंद्र नागर जैसा मुझे मित्र मिला, इसे मैं अपनी वाचालता का एकमात्र पुरस्कार मानता हूं। उनके बड़प्पन और नेह के लिए प्रणाम।

और अंत में वे जिनकी वजह से मैं हूं और जिनकी वजह से मैं अपने होने की सार्थकता का निरंतर संधान करता हूं। पापा और मम्मी। मौत को हराकर लौटे पापा की तरह ही मैं हमेशा से बनना चाहता था, यह जानते हुए भी कि उनके जैसा बनना नामुमकिन की तरह है। कभी भी अपने आदर्शों से समझौता न करने वाले पापा को याद करते ही आंख की कोरों से पानी झरने लगता है। पापा, ये शोध आपके चरणों में ही अर्पित है। मां से मेरा हमेशा झगड़ा रहा है। मगर मां की गोद मेरा सबसे सुरक्षित अभ्यारण्य भी है। मां आखिर में सिर्फ मां है और उसके लिए कुछ भी कहने की सामर्थ्य कभी नहीं जुटा पाऊंगा। दीपू भइया, जिन्हें मैं दादा कहता हूं मगर जिनके साथ दादागीरी हमेशा उनके दुलारे कल्लू की ही चलती रही। उन्हें प्रणाम। मैं संयुक्त परिवार से आता हूं, और मेरी उपलब्धियों में भी सबका साझा है। खास तौर पर राजू चाचा और पप्पू दादा का, जिन्हें हमेशा से घर के इस सबसे ब्राइट लड़के की चिंता लगी रही। उन्हें सादर सम्मान। गोलू, रेशू, निशी और घर के सभी छोटों को प्यार।

और अंत में उन सभी को आभार, जिन्होंने जीवन यात्रा में कभी न कभी, कहीं न कहीं मुझे अपने स्नेह रस से सिंचित किया, फिर चाहे वह चेतना मैम हों या सोन, स्वदेश भइया या फिर पूजा। अब ये सब मेरे जीवन का हिस्सा नहीं हैं, मगर मेरा उनके प्रति दाय स्मृतियों में अक्षुण्ण है।

अब लग रहा है कि कितनों को और कैसे धन्यवाद बोला और बहुत मुमकिन है कि इस कवायद में कुछ नाम भी छूट गए हों। आखिर ये कैसी रस्में हैं, जिनको निबाहना आपको नॉस्टैलजिक बना जाता है। ऐसे में कबीर बाबा की पंक्ति याद आ रही है
**देह धरे को दंड है...**

- सौरभ द्विवेदी
17 जुलाई, 2009

# भूमिका

"यह कोई न समझे कि मैं अपनी बेरौनकी और तबाही के ग़म में मरता हूँ। जो दुःख मुझको है उसका बयान तो मालूम, मगर उस बयान की तरफ़ इशारा करता हूँ। अंग्रेज़ की कौम से जो इन रूसियाह कालों के हाथ से कत्ल हुए, उसमें कोई मेरा उम्मीदगाह था और कोई मेरा शागिर्द। हिंदुस्तानिओं में कुछ अज़ीज़, कुछ दोस्त, कुछ शागिर्द, कुछ माशूक, सो वे सबके सब ख़ाक में मिल गए। एक अज़ीज़ का मातम कितना सख्त होता है ! जो इतने अज़ीज़ों का मातमदार हो, उसको ज़ीस्त क्योंकर न दुश्वार हो। हाय, इतने यार मरे कि जो अब मैं मरूँगा तो मेरा कोई रोने वाला भी न होगा।"

- मिर्जा असदुल्लाह खां 'गालिब'

( 1858 में अपने शागिर्द मुंशी हरगोपाल तफ्ता के नाम लिखी चिट्ठी में ग़ालिब ने ग़दर का हाल बयान किया है। ख़त अर्श मलसियानी के अनुवाद में, अनुराग वत्स के ब्लॉग *सबद* से साभार)

अनुशासन बड़ा अजीब शब्द है। अराजकता से बचाव के लिए इस्तेमाल होता। इस एक शब्द से तमाम पदबंध निकलते हैं, मसलन अकादमिक अनुशासन। 1857 की घटनाओं पर विचार करते हुए और उससे जुड़े दस्तावेजों को पढ़ते हुए एक बार फिर अनुशासन के तर्क से साबिका पड़ता है। गदर करने वाले सिपाहियों में अनुशासन की कमी थी, अंग्रेज सेना ज्यादा अनुशासित थी, वगैरह-वगैरह। इसी तरह से इस परिघटना की पड़ताल की दिशा तय करने में भी अनुशासन की चाबुक काम लाई जाती रही है। सिर्फ सरकारी गजटों का इतिहास लेखन में प्रयोग, जो लोग इन घटनाओं में शामिल थे उनसे जुड़े सरकारी दस्तावेजों का इस्तेमाल या फिर कुछ और अनुशासित यानी की व्यवस्थित और सरकार के संज्ञान में लिखे गए विवरणों का इस्तेमाल।

अब ऐसे में भला एमफिल के विशुद्ध अकादमिक अनुशासन की मांग करने वाले लघुशोध प्रबंध में शोध के तय रीति-रिवाजों के पालन की अपेक्षा की जाए, तो क्या गलत है ? मगर गालिब की तरह मेरे सामने भी सबसे बड़ा संकट इस अकादमिक रवायत के फेर में गमजदा होने का है। क्योंकि, घोषित तौर पर हिंदी साहित्य का विद्यार्थी होने के बावजूद शोध के आधार ग्रंथों में से एक भी मूल रूप से हिंदी में नहीं लिखा गया है। क्योंकि, विषय बाहरी तौर पर साहित्य में कम और इतिहास में ज्यादा ले जाने के संकेत देता है। बहरहाल कोशिश यही रही है कि अपने मूल प्रयास यानी 1857 की तारीख को

तीन किताबों रामकहानी-सीताराम, विष्णुभट्ट की आत्मकथा और रसेल की माई इंडियन म्यूटिनी डायरी के जरिए समझने के आग्रह को बचाए रखते हुए सिलसिलेवार तर्क दिए जाएं और इस क्रम में यथासंभव उन विद्वानों के भी उद्धरण दिए जाएं, जिन्होंने 1857 की प्रकृति पर विचार के प्रस्थान बिंदु तय करने में अहम भूमिका निभाई। शोध का विषय है *1857 का हिंदी समाज विलियम हावर्ड रसेल की माई इंडियन म्यूटिन डायरी, सूबेदार सीताराम पांडे की आत्मकथा रामकहानी-सीताराम और मराठी ब्राह्मण विष्णभुट्ट की आत्मकथा माझा प्रवास सत्तावन सालच्या बंडाची हकीकत (हिंदी में विष्णुभट्ट की आत्मकथा शीर्षक से अनूदित) के विशेष संदर्भ में*। इन किताबों के चुनाव के तर्क और विषय के प्रतिपाद्य पर बात करने से पहले एक नजर अपने तईं विकसित हुई 1857 की समझ पर।

साल 2007 बड़ी रेलमपेल के साथ आया। सरकारी और निजी प्रयासों से भरपूर अकादमिक बहसें कि आखिर 1857 क्या था और आज के समय में इसे याद करने के क्या मायने और सबक हैं ? इस महान घटना के 150 साल पूरे होते-होते भारतीय जनमानस और नए इतिहासकारों के बीच एक समझ बन चुकी है कि यह राष्ट्रीय चेतना की पहली अभिव्यिक्ति थी। इसमें न सिर्फ सामंत वर्ग बल्कि आम जनता की भी भरपूर भागीदारी थी। गौर करने की बात यह है कि यहां जनता से आशय सिर्फ समाज की द्विज ही नहीं बल्कि दलित जातियों और महिलाओं से भी है। समय बीतने के साथ इस महान घटना के साथ नए सवाल भी जुड़ गए हैं। मसलन सिखों की एक राष्ट्रीयता के तौर पर 1857 के प्रति क्या सोच थी ? शम्सुल इस्लाम ने सरकारी गजट और दूसरे सरकारी स्रोतों के जरिए उस मिथ को चुनौती देने की कोशिश की है कि सिखों ने हर मुमकिन तरीके से गदर का विरोध किया। ऐसा ही एक सवाल 1857 के मजहबी रंग का है। विलियम डेलरिंपल सरीखे गद्यकार (इतिहासकार नहीं) ने *द लास्ट मुगल* जैसी चर्चित किताब में गदर को जिहादी रंग देते हुए इसका विस्तार 9/11 तक कर दिया। उधर सबआल्टर्न स्टडी के विकास के साथ ही गदर पर एक नया मोर्चा खुल गया है कि इस महान विद्रोह में दलितों और महिलाओं और किसानों का क्या योग था, उनके योगदान का मूल्यांकन कैसे किया जाए और इसके लिए परंपरागत स्रोतों से परे जाकर लोकगीतों, जनश्रुतियों के सहारे एक नया आख्यान क्यों न गढ़ा जाए ? इसी क्रम में इतिहास लेखन के नए उपकरणों पर भी बात हुई है। हालांकि इन सभी कवायदों के अपने-अपने अंतर्विरोध भी हैं, जिन पर हम आगे विचार करेंगे, लेकिन अहम बात यही है कि ये सवाल जब उठे हैं तो सारी अकादमिक स्थापनाओं की परवाह किए बिना तीखी बहस पैदा कर रहे हैं।

1857 के कारणों पर तमाम इतिहासकारों को पढ़ने के दौरान शेखर बंदोपाध्याय की किताब "पलासी से विभाजन तक" में ही उन विचारों का समुच्य दिखा जो अब तक पढ़ने के दौरान बने हैं। इसलिए इस किताब ने विचारों को क्रमबद्धता देने में खासी मदद की। शेखर 1857 पर विचार करते हुए कुछ मार्के की बातें कहते हैं, मसलन, 'गदर के कारणों की तलाश केवल सेना के असंतोष में नहीं, बल्कि उस बुनियादी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की लंबी प्रक्रिया में की जाए, जिसने कंपनी राज की पहली सदी में किसान समुदाय को तबाह कर दिया।'[1] गौरतलब है कि शेखर जिस वक्त की बात कर रहे हैं, उसी दौरान सूबेदार सीताराम पांडे सेना में शामिल होते हैं क्योंकि उनके पिता पर अंग्रेजी कोर्ट में मामला चला रहा है और सीताराम के फौज में जाने से उनकी पैरवी का वजन बढ़ जाएगा। अवध से जुड़ा यह एक बेहद मामूली मामला है, लेकिन उस समय के समाज की मनोवृत्ति समझने के पर्याप्त सूत्र देता। गदर पर लिखने वाले तमाम इतिहासकारों ने माना है कि अवध इसकी नाभि था। यहां के लाखों किसान बंगाल रेजीमेंट में सिपाही थे। नई मालगुजारी व्यवस्था के कारण सरकार के सामने इन सिपाही किसानों के परिवारों से जुड़ी हजारों अर्जियां थीं। इसके अलावा अवध के विलय ने भी उनकी आस्था पर चोट पहुंचाई।

1857 का 2007 में बरपा शोर बीत जाने के बाद इस शोध का क्या अकादमिक महत्व हो सकता है, विषय का चुनाव करते समय यह सवाल मेरे जेहन में था। मगर जैसे-जैसे चुनी गई तीनों किताबों और गदर से जुड़े बाकी साहित्य को पढ़ता गया, लगा कि हमारे अतीत की ऐतिहासिक गुत्थियों में यही सबसे ज्यादा जटिल और महत्वपूर्ण है।

इन तीनों किताबों पर एक साथ काम करने के पीछे एक अकादमिक जिद भी छिपी थी। प्रायः सवाल पूछा गया कि इनमें से हिंदी की किताब तो मूलतः कोई भी नहीं है। मेरे विचार से हिंदी प्रदेश का यही वैचारिक संकट इसे अपने विस्तार से रोक रहा है कि हिंदी साहित्य का मतलब हिंदी में लिखा गया साहित्य और उसमें उठाए गए सवाल। जरूरत इस चौहद्दी का विस्तार करने की है। हिंदी प्रदेश की जातीय चिंताओं से जुड़े किसी भी सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलू पर हिंदी साहित्य में शोध हो सके, इसकी संभावनाओं को हमें पनपने ही देना होगा।

हिंदी को खड़ी बोली का पर्याय माने जाने के आग्रह से भी मुझे आपत्ति है। आखिर अवधी, बुंदेली, ब्रज और ऐसी ही तमाम बोलियां भी तो हिंदी को अपने रस से तथाकथित आधुनिक काल के पहले तक सींचती रही हैं। तो फिर इन बोलियों में लिखे गए अपेक्षाकृत कम पुराने साहित्य को हिंदी साहित्य क्यों न माना जाए ? साथ ही सेमिनारों

और सैद्धांतिक बहसों में अंतरअकादमिक विमर्श (इंटरडिस्पिलनरी डिसकोर्स) की वकालत करने वाला हिंदी समाज दूसरी भारतीय भाषाओं और विदेशी भाषा में रचे गए साहित्य के उन विवरणों का इस्तेमाल क्यों न करें, जिसमें हिंदी समाज की स्थितियों का वर्णन है।

1857 पर कोई भी अकादमिक काम एक प्रयास है, उस दावे के और करीब पहुंचने का, जिसे *मुश्तरका तहजीब* कहते हैं। जब यह कहा जाता है कि हिंदू और मुसलमान इस महादेश की दो आंखें हैं, तो गदर एकमात्र ऐसा मंजर नजर आता है, जो इन दोनों आंखों ने एक साथ, भरपूर और साफ देखा। इसके बाद भारतीय इतिहास पर नजर डालें तो खिलाफत आंदोलन के दौरान ही हिंदू-मुस्लिम नेतृत्व एक दूसरे के करीब आया, लेकिन यह साझेदारी राजनीतिक ज्यादा थी। आम गांव-दुआर की जनता इससे नहीं जुड़ी थी। ऐसा नहीं है कि विभाजन के पहले हिंदुओं और मुस्लिमों में लट्ठ ही चलते रहे हों, लेकिन एक साझा लक्ष्य के प्रति जिस भावना के साथ गदर के दौरान यह दोनों साथ आए, वैसा बाद में और उतने परिमाण में दुर्भाग्य से नहीं हो सका।

1857 पर स्रोतों और सामग्री की भरमार है। ऐसे में इन्हीं तीनों किताबों को चुनने के पीछे की वजहें अकादमिक भी हैं और व्यक्तिगत भी। विषय के चुनाव से कुछ महीने पहले जेएनयू में लोकसभा स्पीकर सोमनाथ चटर्जी का लेक्चर था, लेकिन भारी भीड़ के कारण मुझे ऑडिटोरियम के बाहर ही बैठना पड़ा। बगल में ही स्कूल ऑफ इंटरनैशनल स्टडीज के प्रोफेसर तुलसीराम बैठे थे। दलित साहित्य की बात चल निकली तो उन्होंने बताया कि जाति के दंश से खुद ब्राह्मण भी नहीं बच पाए और अपनी बात के ऐवज में उन्होंने *किस्सा पांडे सीताराम* का जिक्र किया। ऐसा सिपाही जो लगभग 40 साल ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में रहा, जब अपनी बात खालिस हिंदुस्तानी यानी किस्सागोई से भरे अंदाज में कहे तो तमाम जीवन सत्य सामने आएंगे, ऐसी छवि दिमाग में कौंध गई। उन्हीं दिनों तदभव में युवा आलोचक वैभव सिंह के 1857 पर लिखे गए एक लेख से साबिका पड़ा, जिसमें रसेल की डायरी का जिक्र था। उनसे दरियाफ्त करने के बाद और पत्रकारिता का विद्यार्थी रहने के कारण दुनिया के पहले युद्ध संवाददाता की डायरी में रुचि बढ़ती ही गई। आखिर मेरी खोज चंडीगढ़ स्थित पंजाब यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी मे पूरी हुई। इसी दौरान माझा प्रवास का हिंदी अनुवाद विष्णुभट्ट की आत्मकथा भी पढ़ने को मिला और इसके अनुवादक और पत्रकार मधुकर उपाध्याय से मिलने का मौका भी। मधुकर जी ने 1857 के आयोजनों के मद्देनजर रामकहानी-सीताराम और विष्णुभट्ट की आत्मकथा का प्रकाशन कर इरफान हबीब के उन प्रयासों को गति दी है, जो इतिहास लेखन में भारतीय संदर्भ बिंदुओं और शैली के सहारे नए प्रस्थान बिंदु तलाशने पर जोर

देता है।

इन तीनों ही किताबों का हिंदी साहित्य में व्यापक इस्तेमाल नहीं हुआ है। एमफिल में तो इन किताबों को ध्यान में रखकर हिंदी में किसी भी तरह का कोई काम नहीं हुआ है। वजह शायद यह रही हो कि सीताराम की डायरी का तो हिंदी अनुवाद ही 2007 में आया। माझा-प्रवास का हिंदी में अमृतलाल नागर *आंखों देखा गदर* के नाम से अनुवाद काफी पहले कर चुके थे। लेकिन हालिया शोध से यह बात सामने आई है कि नागर जी ने माझा प्रवास की मूल प्रति का नहीं वरन चलन में रही संशोधित प्रति का इस्तेमाल किया। मधुकर उपाध्याय ने इस बात का ध्यान रखा कि अनुवाद के लिए भट्ट की लिखी और इतिहासकार पोतदार और फाटक द्वारा सम्मत मूल प्रति का ही प्रयोग किया जाए। इस फेर में दोनों ही अनुवादों में काफी फर्क आया। इस फर्क की जानकारी एमफिल में ही डॉ. ओमप्रकाश सिंह के निर्देश पर दोनों अनुवादों के तुलनात्मक अध्ययन पर एक शोधपत्र लिखने के दौरान हुई।

रसेल की डायरी के कुछ अंशों के अनुवाद इक्का-दुक्का पत्रिकाओं के विशेषांकों में आए हैं। विलियम डेलरिंपल ने जफर के दिल्ली में कैद रहने के दौरान बनी तस्वीर को खींचने के लिए रसेल के वर्णन का उपयोग किया है। लेकिन रसेल की डायरी, उनकी रिपोर्टिंग और इन सबसे बढ़कर अंग्रेज लश्कर में रहने के दौरान भारत संबंधी उनके अनुभवों को अभी तक हिंदी साहित्य में जगह नहीं मिली। तर्क दिया जा सकता है कि डायरी इंगलिश में होने के कारण ऐसा हुआ, लेकिन इस डायरी का प्रतिपाद्य वही हिंदी या कहें कि हिंदुस्तानी समाज है, जो विद्रोह के केंद्र में रहा। दूसरी बात रसेल का स्रोत तात्कालिक भी है, आंखों देखा भी और कई मायनों में कंपनी राज की निर्मम और ठोस आलोचना करता भी। कोलकाता से दिल्ली और फिर लौटकर एक बार फिर कानपुर जाने तक रसेल ने अंग्रेज अधिकारियों और उनके दिमाग में चल रही उधेड़बुन के बारे में जिस तफसील से बताया है, वह विरोधी पक्ष के मानवीय पहलू के अध्ययन में मदद करता है। जाहिर है कि उस पक्ष का मानव *व्हाइट मैन बर्डन* के आग्रह और बदले की भावना से ज्यादा संचालित था।

मार्क ब्लाख की धारणा थी कि 'संग्रालयीय तथ्यों पर निर्भर, राजनीतिक इतिहास एक आंशिक इतिहास है, समग्र इतिहास के लिए हर तरह के स्रोतों और पद्धतियों की मदद लेनी चाहिए।'[2] शोध के दौरान यह धारणा बराबर मेरे सामने बनी रही और इसी क्रम में 1857 पर पाठ आधारित आलोचना और नए सिरे से विचार करने का जोखिम उठा सका।

और अंत में मौलाना आजाद का वह कथन याद आता है, जिसके साथ मैं भी अपना तादात्म्य अनुभव करता हूं कि 'मुझे लगता है कि 1857 का वस्तुनिष्ठ इतिहास लिखा जाना अभी बाकी है।'[3] जाहिर है कि इस महाप्रयास के लिए कुछ वैसी ही ईमानदारी चाहिए, जिसके बाबत जफर गदर और बागियों के चरित्र के बाबत बात करते हैं-
*गाजियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की, तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिंदुस्तान की।*

**पुनश्चः** शोध में माझा प्रवास के हिंदी अनुवाद विष्णुभट्ट की आत्मकथा का प्रयोग किया है। इसी तरह से किस्सा-सीताराम के हिंदी अनुवाद रामकहानी-सीताराम का प्रयोग किया है। आगे सभी संदर्भों में विष्णुभट्ट की आत्मकथा और रामकहानी-सीताराम ही लिखा गया है।

# संदर्भ सूची

1. पलासी से विभाजन तक, शेखर बंदोपाध्याय, ओरियंट लॉन्गमैन, पेज 185
2. 1857- भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, संपादक देवेंद्र चौबे, बद्रीनारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, पेज 16
3. मीडिया, केंद्रीय हिंदी संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, अतिथि संपादक- रवींद्र त्रिपाठी, पेज 191

अध्याय 1

# 1857 का परिप्रेक्ष्य

# 1857 का परिप्रेक्ष्य

1857 के संदर्भ में जब हम राष्ट्र शब्द का प्रयोग करते हैं तो यह आधुनिक अर्थों में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा से कतई मेल नहीं खाता। ऐसे में उस भावना को क्या कहा जाए, जो बागियों के दिलों में पनपी थी? अजीमुल्ला खां ने कौमी गीत लिखा कि 'यह है आजादी का झंडा, इसे सलाम हमारा, हम हैं मालिक इसके हिंदुस्तान हमारा, पाक वतन है कौम का जन्नत से भी न्यारा, ये है हमारी मिल्कियत हिंदुस्तान हमारा।' ये कौन सा हिंदुस्तान है, जिसमें आजादी के झंडे को सलाम किया जा रहा है? जाहिर है कि यह कोई बादशाही झंडा नहीं था। यह राजनीतिक चेतना और लोकतंत्र जैसे किसी मूल्य से आत्मसात वैज्ञानिक किस्म का और ठोस सिद्धातों से निर्मित राष्ट्रवाद भी नहीं था। मगर इसे एक फौरी आक्रोश के लिए गठित समूहों की अस्पष्ट सी, प्रतिगामी विचारधारा कहकर खारिज कर देना, आधुनिक राष्ट्रवाद के कुछ अहम प्रस्थानबिंदुओं को नजरअंदाज करने की तरह होगा।

गदर के संदर्भ में राष्ट्रवाद नाम के विचार को समझने में पार्थ चटर्जी का लेखन एक नई दृष्टि देता है। अपनी किताब *द नेशन एंड इट्स फ्रेगमेंट्स* में वर्णित सिद्धांत के बारे में बात करते हुए पार्थ कहते हैं कि गदर के बाद हुए तमाम आंदोलनों में *आध्यात्मिक राष्ट्रवाद* (स्पीरिचुएल नैशनलिज्म) का तत्व हलका पड़ता गया और *राजनीतिक राष्ट्रवाद* (पॉलिटिकल नैशनलिज्म) बढ़ता गया। इन पदबंधों को विस्तार से समझने की जरूरत है। पार्थ के मुताबिक 'किसी भी देश में परिवर्तन के समय उस देश का अभिजात्य वर्ग, शासक वर्ग के साथ मिलकर एक राजनीतिक चेतना विकसित करता है। ऐसे में राजनैतिक राष्ट्रवाद का जो आख्यान विकसित होता है, उसमें समाज के निचले तबके की भावनाएं उतनी महत्वपूर्ण नहीं रहतीं। इसे हम गैरसमावेशी राष्ट्रवाद का एक उपकरण मान सकते हैं। मगर जब अभिजात वर्ग अपनी मान्यताओं, रीति-रिवाजों की बात करता है, तो उसे अपनी स्थितिगत श्रेष्ठता इतनी प्रिय हो जाती है कि वह शासक वर्ग के विरोध में जा खड़ा होता है और समाज के निचले तॅबके को संस्कृतिस धर्म और परंपराओं के धागे में बांधता चला जाता है। दरअसल यह समाज का परंपरागत ताना-बाना ही है, जो उसकी श्रेष्ठता को परंपरा की ऊर्जा के जरिए वैधता मुहैया कराता है। इसी स्तर पर आध्यात्मकिक राष्ट्रवाद अस्तित्व में आता है।'[1]

इन विचारों के आलोक में हमें यह देखना होगा कि 1857 के विद्रोह का नेतृत्व कर रहे

वर्ग ने प्रकटतः किन बुनियादी विचारों के साथ अवाम को अपने साथ खड़ा किया। गदर पर अभी तक की जानकारी यही बताती है कि अवाम धर्म, समाज, अपनी जमीन, अपने रीति-रिवाजों और तौर-तरीकों को बचाने के लिए फिरंगियों के खिलाफ हो गई थी। अचानक उसके लिए माई-बाप का मतलब अपनी भाषा बोलने वाले और अपने रंग में रंगे, रचे-बसे लोग हो गए और जो ऐसे नहीं थे, वे शोषक और दुश्मन की श्रेणी में आ गए। इस अर्थ में देखा जाए तो अभिजात्य वर्ग ने शासक वर्ग से दूरी तो बढ़ाई, अवाम के करीब भी आए, इसके लिए वजहें भी वही रहीं, जिनकी बात पार्थ आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का विकास करने वाले आधारभूत उपकरणों के तौर पर करते हैं, लेकिन इन उपकरणों को, इन वजहों को पैदा करने के जिम्मेदार अंग्रेज ही थे। यानी गदर के संदर्भ में राष्ट्रवाद के इस रूप की अवधारणा कुछ उलट सी गई। भारतीयता या कहें कि अपनी जमीन का तर्क बाकी तर्कों से बड़ा हो गया और धर्म राजनैतिक समुच्चय का हिस्सा होकर भी एकता की वजह बना, मतभेद की नहीं। लेकिन बाद में स्थितियां ऐसी न रहीं और हिंदू और मुसलमान होना ज्यादा मुफीद दिखने लगा। कांग्रेस के नेतृत्व में लड़ी गई आजादी की लड़ाई और देश विभाजन इसी कड़ी के अगले सोपान हैं। इस संदर्भ में 1857 और उससे ठीक पहले के सामाजिक ताने-बाने की दरियाफ्त खासी महत्वपूर्ण है।

गदर के बारे में तमाम सवालों से रूबरू होने से पहले सबसे अहम सवाल जान लेना जरूरी है और वह है कि अंग्रेजों के लिए इस विद्रोह का क्या महत्व था ? वे अफगानिस्तान में हार का सामना कर चुके थे। क्रीमिया युद्ध में भी उनकी धुलाई हो चुकी थी और इससे भारत में संदेश जा रहा था कि अंग्रेजों को हराया जा सकता है। विद्रोह की रिपोर्टिंग की बाबत भारत पहुंचे *द टाइम्स* के रिपोर्टर और वॉर रिपोर्टिंग के जनक माने जाने वाले विलियम हावर्ड रसेल ने इस स्थिति के बारे में जो टिप्पणी दर्ज की है, वह एक वाक्य में ही इस सवाल का जवाब दे देती है। रसेल लिखते हैं कि 'हम धर्म, नस्ल, बदला, उम्मीद और राष्ट्रीयता का युद्ध लड़ रहे हैं, जो स्थानीय सामंतों की सत्ता की पुनर्स्थापना की कोशिश भी है।'[2]

संभवतः इसीलिए इस युद्ध में अतिरंजनाओं का भयानक तरीके से सहारा लिया गया। अंग्रेज अधिकारियों ने 26 जुलाई 1857 को कानपुर में हुए बीवीघर हादसे (जिसमें तमाम अंग्रेज महिलाओं और बच्चों को विद्रोहियों ने मार डाला था) को अपने अत्याचार के लिए बदले के तर्क के तौर पर इस्तेमाल किया है। हालांकि गदर के दौरान हिंदी इलाकों में भटकने वाले विष्णु भट्ट की मानें तो बीवीघर हादसा हो या कानपुर के एक घाट पर नाव में सवार अंग्रेजों पर हमला, इसमें नाना साहब की सहमित नहीं थी।[3] इसके उलट

अंग्रेजों के वर्णन में इन घटनाओं के लिए जिम्मेदार माने जा रहे पेशवा के व्यक्तित्व को अपमानजनक ढंग से पेश किया गया है और इसले लिए हर मुमकिन भाषा का इस्तेमाल किया गया। मसलन, 1857 का विस्तृत इतिहास लिखने वाले क्रिस्टोफर हिबर्ट लिखते हैं कि 'नाना साहेब ने कभी भी अपने मेहमानों को यह एहसास नहीं दिलाया कि वे दुर्भाग्यशाली परिस्थिति में हैं। उनका महल पूर्णतः सुसज्जित था, जिसमें फानूस जगमगाते थे, वहां आकर्षक शीशे और बेशकीमती कालीन थे। यह भी अफवाहें थीं कि उनके महल में पेटिंग्स के गोपनीय गलियारे थे, जिनमें आंखों को चुंधिया देने वाले मानव-दृष्टि के अयोग्य चित्र लगे हुए थे। ये चित्र यूरोपीय तथा भारतीय दोनों चित्रकारों ने संरक्षकदाताओं की चरम कामुक, लंपट और वासनामूलक प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर बनाए थे।'[4] इस टोन के कुछ उलट रसेल और फ्रेंच डॉक्टर फेलिक्स मेइनर्ड जैसे कुछ लोग कानपुर की घटनाओं से मिले सबक की बात भी करते हैं। यह सबक सत्ता की ताकत के जरिए स्थानीय लोगों को दबाने का नहीं बल्कि अंग्रेज राज की प्रकृति पर पुनर्विचार का है। रसेल के मुताबिक अंग्रेज इस बात से आतंक की हद तक चिढ़े थे कि 'ब्लैक' लोगों ने उनकी नस्ल पर आततायी ढंग से हमला किया। इस मनःस्थिति पर सटीक टिप्पणी करते हुए इतिहासकार रुद्रांशु मुखर्जी ने लिखा है कि 'कानपुर का 27 जून 1857 का कत्ले आम अतिचार का एक कृत्य था, क्योंकि यह उपनिवेशितों की देसी हिंसा का कृत्य था, जिसने उपनिवेशकों की हिंसा के एकाधिकार को तोड़ा।'[5]

इसी पहलू से जुड़ा एक सवाल अंग्रेजों के दमन के चरित्र को निरूपित करने का भी है। गदर के वक्त युद्धबंदी जैसी कोई अवधारणा नहीं थे। इतिहासकार इरफान हबीब ने ब्रिटिश साक्ष्यों के हवाले से बताया है बंगाल रेजीमेंट के पूरे सवा लाख सैनिकों ने बगावत की। अगर एक क्षण को गदर को सिर्फ सैनिक विद्रोह भी माना जाए तो पूरे विश्व इतिहास में यह घटना अदभुत है और उस लिहाज से भी व्यापाक सामाजिक और आर्थिक पड़ताल की मांग करती है। बहरहाल, हबीब ने लिखा है कि 'सरकारी आंकड़ों के अनुसार बंगाल आर्मी में सवा लाख से ऊपर देसी सिपाही थे। ब्रिटिश संसद में 1858 में पेश की गई रिपोर्ट के मुताबिक इनमें करीब सात हजार सिपाही ही अंग्रेजों के प्रति वफादार बने रहे थे।'[6] गदर के दौरान पकड़े गए किसी भी विद्रोही के जिंदा बचने के कोई सुराग नहीं मिले। विद्रोह सिपाहियों में कुछ एक ही नेपाल में जाकर छुप पाए। बाकी या तो लड़ाई में मारे गए या अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्त में लेकर फांसी पर चढ़ा दिया। यूरोप में खुद को सभ्यता का पहरुआ बताने वाले ब्रिटिश साम्राज्य की असलियत वैश्विक स्तर पर इससे खुलकर साफ आ गई। खुद अंग्रेज भी इस पहलू के प्रति सशंकित थे। इसीलिए रसेल को ब्रिटिश कमांडर कोलिन कैंपबेल ने साफ कहा था कि 'हम आपके साथ हर सूचना की हिस्सेदारी

करेंगे, लेकिन उन्हें इस तरह से इस्तेमाल किया जाए कि हमारे लिए दिक्कतें न हों।'[7] ये कौन सी दिक्कतें थीं, जिनके बारे में कैंपबेल बात कर रहे थे?

हबीब ने सेना के सिपाहियों से जुड़े आंकड़ों का इस्तेमाल औपनिवेशिक आतंक के पहलू को उभारने के लिए किया है। अवध की सेना के जो सात हजार सिपाही बच गए थे, उन्हीं में से एक थे सूबेदार सीताराम पांडे, लेकिन सीताराम की खुद बांची कहानी पढ़ने के बाद कहीं से भी उनके प्रति गद्दार की सोच नहीं बनती। बल्कि इस बहाने उस मानसिकता को समझने में मदद मिलती है, जो सेवा और गुलामी के भावों से मिलकर बनी और अंग्रेज बहादुर को अपना माई-बाप समझ बैठी। रही बात औपनिवेशिक हिंसा की तो रसेल की डायरी हो या विष्णुभट्ट की आत्मकथा, जहां कहीं भी लूट और हार है, वहां अंग्रेजों की हिंसा का दृश्य सामने आता है। गौर करने की बात यह है कि अंग्रेजों की हिंसा जीवन के साथ आस्था के खिलाफ थी। रसेल बताते हैं कि रुहेलखंड में मस्जिदों का इस्तेमाल अफसरों की मेस के लिए होता था। इसके अलावा लखनऊ में हमले के पहले उस इलाके के तमाम मंदिरों को तोपों से उड़ा दिया गया। विष्णुभट्ट भी झांसी में हुई लूट के दौरान हुए कत्लेआम का जिक्र करते हैं।[8]

अब तक 1857 पर किए गए तमाम शोधों में उस समय के अखबारों में छपी रपटों का हवाला दिया जाता है, मगर क्या इसकी भी कोई पड़ताल जरूरी नहीं हो जाती कि इन रपटों को लिखने के लिए सामग्री जुटाने के तौर-तरीके क्या थे? कितनी बार घटनास्थल पर जाकर रिपोर्टिंग (स्पॉट रिपोर्टिंग) की गई और कितनी बार मुहैया कराई गई जानकारी के आधार पर ही रिपोर्ट लिख दी गई? ऐसा नहीं है कि ब्रिटिश प्रेस या उस वक्त कि जितनी भी और जैसी भी इंडियन प्रेस के संदर्भ में विश्वसनीयता से जुड़े इस तरह के सवाल उठे ही न हों। कार्ल मार्क्स ने भी अपने लेखन में कलकत्ता बेस्ड ब्रिटिश प्रेस की सूचना पर संदेह जताया है।[9]

1857 से जुड़ा एक सवाल सेना के सवर्ण चरित्र का भी है। इसी आधार पर इस आंदोलन को प्रतिगामी भी साबित किए जाने के प्रयास किए जाते हैं। तमाम आलोचकों, मसलन सुभाष गाताडे का तर्क है कि विद्रोहियों के पास समाज के लिए कोई दृष्टि नहीं थी। इसके समर्थन में बहादुर शाह जफर द्वारा किया गया यह ऐलान पेश किया जाता है, जिसमें कहा गया है कि 'ब्रिटिश सरकार ने जमींदारियां कायम करके बढ़े हुए जमा लगाए हैं और बकाया मालगुजारी की वसूली के लिए रियासतों की आम नीलामी कर कई जमींदारों को बेइज्जत किया है। यहां तक कि किसी नौकरानी या गुलाम द्वारा दाखिल मुकदमे में

जमींदारों को अदालत में लाया जाता है और फिर गिरफ्तार कर बेइज्जत किया जाता है।'[10] यह सही है कि बागी बार-बार धर्म की दुहाई देते हुए पुरानी व्यवस्था लाने की बात कह रहे थे, लेकिन व्यावहारिक तौर पर उनके क्रियाकलापों का परीक्षण करने पर कुछ उलट ही कहानी सामने आती है। मसलन, दिल्ली में बादशाह को प्रतीकात्मक तौर पर भले ही शहंशाह घोषित किया गया हो, लेकिन सैन्य व्यवस्था के लिए एक सैन्य परिषद और राजकीय व्यवस्था के लिए एक राज्य परिषद का गठन किया गया था। साथ ही दिल्ली के आस-पास की रियासतों को संदेश दिया गया था कि ब्रिटिशों के जाने के बाद संघीय आधार पर राज कायम किया जाएगा। गदर पर आधुनिक प्रतिमानों के हिसाब से विचार करते समय मार्क्स की यह बात भी ध्यान रखनी होगी कि 'भारतीय क्रांति यूरोपीय क्रांति के लक्षणों से संपन्न नहीं हो सकती। उसका एक कारण मध्य वर्ग और राजनीतिक चेतना की कमी भी है।'[11] इसलिए गदर को प्रतिगामी साबित करने की कोशिशें अंततः अंग्रेजों के उस राग का अलाप करने जैसी होंगी, जिसमें वे सभ्य करने के नाम पर भारतीयों पर शासन कर रहे थे। दलित चिंतक सुभाष गाताडे के मुताबिक 'अगर हम उन इतिहासकारों, विद्वानों को देखें जिन्होंने इस संग्राम को प्रथम स्वाधीनता संग्राम के तौर पर पेश किया तो उनमें एक सरलीकरण सामने आता है। व्यापक जनता को एकत्रित करने के उद्देश्य से 1857 की समीक्षा के काम के दौरान इस संग्राम का और उसके नेतृत्व का महिमामंडन राष्ट्रवादी विमर्श का अनिवार्य हिस्सा बन गया। विमर्श का जोर इस संग्राम की जटिलता को समझने का नहीं, बल्कि व्यापक जनता को उपनिवेशवाद के खिलाफ गोलबंद करने के नेक इरादों का प्रतिफलन था।'[12] गाताडे ने बागियों के नेतृत्व की भविष्य दृष्टि पर भी सवाल उठाए हैं, साथ ही यह तर्क भी दिया कि गंगा-जमुना के इलाकों में एक सप्ताह के अंदर ही स्थिति शांत हो गई। उनका मूल तर्क है कि 'समाज के निचले तबके ने पुरानी व्यवस्था के लौटने के डर से वापस ब्रिटिश परचम के नीचे आने में ही अपनी भलाई समझी।'[13]

गाताडे जैसे चिंतकों की यह बैचेनी राष्ट्रवाद के दक्षिणपंथी स्वर लिए आख्यान के प्रति ज्यादा है और इसके स्रोत इतिहास में तलाशने की कोशिश की जा रही है। यह ध्यान रखना होगा कि गदर के दौरान तथाकथित निचली जाति के भी कई लोग न सिर्फ निचले बल्कि शीर्ष स्तर पर भी सक्रिय थे और परवर्ती दौर में उन्हें भी इतिहास में अपना दाय मिल रहा है। फिर बात चाहे झांसी में गदर की कमान संभालने वाले पूरन कोरी और झलकारी बाई की हो या फिर लखनऊ में अप्रतिम शौर्य का परिचय देने वाली ऊदा देवी पासी की। यह सही है कि विद्रोह की शुरुआत ज्यादातर सवर्ण सिपाहियों द्वारा धर्म और सैनिक सेवाओं में शोषण के नाम पर की गई थी, लेकिन इसके शुरु होने के बाद हिंदी

समाज का तकरीबन हर वर्ग और जाति इससे अछूते न रह सके। दलित चिंतक बद्री नारायण द्वारा इस संबंध में किया गया काम 1857 की 150 बरसी की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। बद्री नारायण ने अवध और पूर्वांचल के तमाम गांवों और उपशहरी इलाकों का दौरा कर उन मिथकों, कथानकों को पुनर्जीवन देने का काम किया है, जो गदर के बाद अस्तित्व में आए। इन कथानकों के नायक कई गांवों में चौरा या मंदिर बनाकर पूजे जा रहे हैं। स्थानीय निवासियों की जातीय स्मृति में इन नायकों के शौर्य की कहानियां दर्ज हैं और दिलचस्प बात यह है कि ज्यादातर नायक समाज के निचले तबके से आते हैं। मसलन, बिठूर के आस-पास के गांवों में किन्हीं गंगू बाबा की कहानियां बहुत प्रचलित हैं। 'गंगू बाबा अत्यंत बलशाली युवक थे और निचली जाति और गरीब परिवार में जन्म लेने के बावजूद गांव जेवार में उनका बड़ा सम्मान था। एक बार गंगू जंगल से शेर मारकर उसे अपनी पीठ पर लाद गांव लौट रहे थे कि नाना साहब ने उन्हें देख लिया और उनकी वीरता देख अपनी सेना में भर्ती कर लिया। इन्हीं गंगू बाबा ने एक बार तो अकेले ही 150 अंग्रेज सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। बाद में अंग्रेजों ने उन्हें काफी घेराबंदी कर पकड़ लिया और कानपुर के चुन्नीगंज इलाके में इमली के पेड़ पर लटकाकर फांसी दे दी।'[14] मगर लोक में गंगूबाबा हमेशा के लिए अमर हो गए।

इतिहासकार ताप्ती रॉय ने भी अपने लेखन में बुंदेलखंड में गदर के दौरान निचली जातियों के सक्रिय भूमिका निभाने के बारे में विस्तार से ब्यौरा दिया है।[15] जाहिर है कि गाताडे का तर्क सिर्फ इसी बिना पर खारिज किया जा सकता है। हालांकि यह बात सही है कि लंबे समय तक मुख्य धारा का इतिहास इन नायकों को *एक्स्ट्रा* की हैसियत ही बख्शता रहा है। लेकिन यहीं पर इतिहास का एक और पहलू सामने आता है और वह है अतीत को नित नवीन दृष्टियों से निरखने और उस आधार पर नित नया इतिहास गढ़ने का।

1857 से जुड़ा एक सवाल यह भी है कि इस महान विद्रोह को किसने संचालित किया? सिपाहियों ने, अपनी सत्ता हड़पे जाने से नाराज सामंतों ने या फिर नेतृत्व के मसले पर आपाधापी के चलते ही यह आंदोलन मर गया। मेरठ के विद्रोही 10 मई को गदर की शुरुआत करने के बाद अगले ही रोज 11 मई को दिल्ली पहुंचे और बहादुरशाह जफर को बादशाह घोषित कर दिया। जफर का नेतृत्व प्रतीकात्मकता और उसके महत्व का एक बेहतर उदाहरण है। बूढ़ा बादशाह खुद से फैसले नहीं कर रहा था, उसके नाम पर एक सैन्य परिषद काज संभाल रही थी, लेकिन सभी ऐलान जफर के नाम से किए जाते थे। जहां भी, जो भी रियासत आजाद होती थी, मुनादी की शुरुआत *खल्क खुदा का, नाम अल्लाह का, राज बादशाह का,* के साथ करवाती था। इसी तरह से गदर के बाकी केंद्रों

मसलन, झांसी, कानपुर, लखनऊ आदि में स्थानीय सामंतों ने गदर का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। इन सामंतों में ज्यादातर अंग्रेजों के सताए थे और उनसे अपनी पुरानी स्थिति वापस लौटाने के लिए गुहार कर रहे थे। इस आधार पर बिलाशक उनको कमजोर ठहाराया जा सकता है। यह भी सही हो सकता है कि शुरू में उन्हें नेतृत्व के लिए उकसाना या बाध्य करना पड़ा। लेकिन उससे भी बड़ा सच यह है कि एक बार नेतृत्व संभालने के बाद इन नेताओं ने पूरे जी जान से उस अभियान को व्यापकता प्रदान की, जो हालिया नाराजगी से बढ़कर दीन-धर्म और जमीन बचाने के नाम पर आगे बढ़ा। इन लोगों के नेतृत्व पर टिप्पणी करते हुए शेखर ने लिखा है कि 'अनेक मिसालों में विद्रोहियों का नेतृत्व इन्हीं सत्ताच्युत शहजादों ने किया और इस तरह विद्रोह को वैधता प्रदान की।'[16] विद्रोह को वैधता का तर्क ठोस जमीन पर खड़ा दिखता है। मसलन, विष्णुभट्ट लिखते हैं कि 'जब कालपी के किले पर कब्जे के दौरान वहां कोई बड़ा अधिकारी नहीं सिर्फ तांत्या टोपे मौजूद थे तो सिपाहियों के बीच चर्चा शुरु हो गई कि कोई बड़ा हाकिम आ जाता तो अच्छा था।'[17] जाहिर है कि यह प्रवृत्ति सामंतशाही की जकड़न दिखाती है, लेकिन तत्कालीन परिस्थितयों में वही एकमात्र और स्वाभाविक नेतृत्व था। तत्कालीन जनता इसमें शामिल तो थी, लेकिन विद्रोह मूलतः एक सैन्य अभियान था।

1857 का बाद के साहित्य और समाज में क्या प्रभाव पड़ा, इस बात की जांच करने के लिए भी 1857 के मूल चरित्र और विशिष्टताओं को समझना जरूरी हो जाता है। हिंदी साहित्य और समाज 1857 के बाद अंग्रेजी दमन के डर और पुनर्जागरण की उधार ली अवधारणा के चलते गदर के बारे में बात करने से ही कतराता था। एक सच यह है कि भारत ने राष्ट्रवाद की चेतना का पहला सामूहिक अनुभव 1857 में किया, मगर दूसरा सच यह भी है कि इसके ठीक बाद हिंदीभाषी प्रदेश के बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रवाद का जो आख्यान रचा, उसमें 1857 के वीरों के लिए कोई जगह नहीं थी। इसके बरक्स भारतेंदु, प्रताप नारायण मिश्र और राधाकृष्ण दास आदि लेखकों ने अपने नायकों में वीर हिंदू चरित्रों को मुगल और मुस्लिम अत्याचारी शासकों के खिलाफ खड़ा किया। बकौल युवा आलोचक वैभव सिंह, 'इन लेखकों ने यह दर्शाने की कोशिश की कि हिंदुओं के लिए राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित होना कोई नई बात नहीं थी, बल्कि अत्यंत प्राचीन और मध्यकाल में भी इनके भीतर राष्ट्रीय भावनाएं उपस्थित थीं।'[18]

यह तो रही राष्ट्रवाद का आख्यान रचने की भारतीय कोशिशों के बावत हिंदी साहित्य के पक्ष पर कुछ बात और प्रकटतः राज की इसमें परोक्ष भूमिका ही नजर आती है। लेकिन

इतिहासकार बिपिन चंद्र इस प्रक्रिया का नोटिस लेते हुए इसे इन लेखकों, बुद्धिजीवियों की ऐसी मजबूरी के रूप में चिह्नित करते हैं, जो देशभक्त तो होना चाहते हैं, लेकिन अंग्रेजी हुक्मरानों की नजर में बुरा बनने जितनी बड़ी कीमत चुकाकर नहीं। चंद्र लिखते हैं कि 'नायकों के निर्माण के मामले में ब्रिटिश अधिकारियों के रवैये ने खासी महत्वपूर्ण भूमिका निबाही। सच्चे राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद विरोध की किसी अभिव्यक्ति पर त्यौरियां चढ़ाते वक्त उन्हें ऐसे व्यक्तियों के शासन से खासी चिढ़ थी, जिन्होंने उनके शासन का विरोध किया हो।'[19] जाहिर है कि बहादुर शाह जफर हों या रानी लक्ष्मीबाई या फिर नाना साहब ये सारे नायक लोक की स्मृतियों में तो ताजा थे, लेकिन बुद्धिजीवी उनका प्रयोग अपने आख्यान में नहीं कर सकते थे।

इन अभिजात या मुख्यधारा के लेखकों के उलट लोक में कुछ ऐसे लेखक भी थे, जो 1857 की स्मृतियों को अपने-अपने तईं सजोंने में लगे हुए थे। इस तरह की कई किताबें पिछले कुछ सालों में सामने आई हैं। मसलन आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल 1857 संबंधी एक लेख में *कल्यान सिंह कुंडरा कानूनगो* नाम के लेखक के द्वारा रानी लक्ष्मीबाई पर लिखे गए रासो का जिक्र करते हैं।[20] इस लेख के मुताबिक कुंडरा ने 1869 के पहले ही इस रासो को लिख डाला था। अपने ग्रंथ के आरंभ में ही वह लिखते हैं कि *छल बल सों झांसी लई, गंगाधर की नार, ताकौ अब आगे कहत भलीभांति व्योहार।* अब कुछ बातों पर गौर करें। पहली, हिंदी साहित्य रासो काव्य की धारा को वीरगाथा काल तक सीमित मानता है। हिंदी साहित्य के किसी भी इतिहास में बुंदेली या तमाम दूसरी बोलियों में लिखे गए लोक-साहित्य का न के बराबर जिक्र मिलता है। यह रासो भी उसी श्रेणी में आता है। दूसरी बात, यह रासो गदर के खत्म होने के महज 11 साल के अंदर लिखा गया। इसमें रानी के साथ हुए अन्याय का बाकायदा बयान दिया गया है। यह वही समय है जब हिंदी नवजागरण के पहरुए 1857 के योद्धाओं के लिए बलवाई और दंगाई जैसे शब्दों का इस्तेमाल कर रहे थे और 1857 के प्रति पूर्वाग्रह की दृष्टि ही उन्हें इस तरह के ग्रंथों के बारे में बात करने से रोक रही थी। इस बारे में अग्रवाल सही ही रेखांकित करते हैं कि 'कारण चाहे भय हो, चाहे 1857 का सैद्धांतिक नकार, लेकिन हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग में 1857 की गूंजती हुई अनुपस्थिति ऐतिहासिक सचाई है।'[21]

मगर हिंदी के ही एक और प्रतिष्ठित आलोचक रामविलास शर्मा जब हिंदी नवजागरण और इसके चार चरणों की बात करते हैं, तो पहले चरण के तौर पर 1857 का गदर मानते हैं और भारतेंदु के लेखन में गदर की चेतना का विस्तार देखते हैं। *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण* नाम की किताब में शर्मा लिखते हैं कि 'गदर, सन 57 का

TH-17827

स्वाधीनता संग्राम, हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेंदु का युग है। गदर के केवल 10 साल बाद 1868 में उन्होंने कवि-वचन-सुधा नाम की पत्रिका निकाली।'[22] मगर रामविलास जी का यह तर्क गले के नीचे से नहीं उतरता और हिंदी के पुनर्जागरण पर हुए हालिया सभी शोध इस मामले में एकमत दिखते हैं कि भारतेंदु मंडल के लेखकों में 1857 से प्रवाहित ऊर्जा अनुपस्थित थी, फिर उसके कारण चाहे जो भी रहे हों।

रामविलास जी ने इसके अलावा *सन सत्तावन की राज्यक्रांति* नाम की भी एक किताब लिखी है। इसमें वह गदर तक आने के क्रम में उससे पहले हुए विद्रोहों की एक धारा का विवरण देते हैं और फिर निष्कर्ष देते हैं कि '1857 का संग्राम हमारा जातीय संग्राम है और वह भारत का राष्ट्रीय संग्राम भी है।'[23] जाहिर है जातीय चेतना के प्रसार के क्रम में ही शर्मा जी 1857 का अगला पड़ाव भारतेंदु युग को मान बैठे हैं, लेकिन उन्होंने गदर के दौरान मौजूद हिंदू-मुस्लिम एकता के क्रमशः क्षीण होने के लिए अंग्रेजों को उत्तरदायी ठहराकर पल्ला झाड़ लिया।

भारत सरकार ने आजादी के बाद 1857 पर व्यवस्थित इतिहास लेखन और शोध के लिए एक परियोजना शुरू की। इसका जिम्मा सौंपा गया भारतीय इतिहासकार *सुरेंद्र नाथ सेन* को। मगर सेन की सोच अपने पूर्ववर्ती ब्रिटिश और भारतीय इतिहासकारों से कुछ ही कदम आगे चलकर ठिठक गई। उनका निष्कर्ष था कि 'धर्म के नाम पर आरंभ हुआ विद्रोह स्वाधीनता संग्राम में बदल गया, इसमें संदेह नहीं कि विद्रोही विदेशी शासन के स्थान पर पुरानी व्यवस्था को वापस करना चाहते थे, जिसका प्रतिनिधि दिल्ली का बादशाह था। यदि विद्रोह सफल हो जाते तो वे समय का प्रवाह पलट देते। नए सुधारों को समाप्त कर देते। ...वे प्रतिक्रांति चाहते थे।'[24] सेन भी लंबी चौड़ी कवायद के बाद अंततः गदर का मूल चरित्र समझने में असफल रहे।

# 1857 और संस्मरण

1857 को जानने-समझने का प्रमुख स्रोत एक लंबे समय तक अंग्रेज अधिकारियों और इतिहासकारों द्वारा लिखे गए विवरण रहे। ब्रिटिश इतिहासकार के हों या अधिकारी मैटकॉफ वगैरह, इनके वर्णन के आधार पर ही दाएं-बाएं करके निष्कर्ष निकाले जाते रहे। 1857 पर शुष्क सरकारी गजेटियर के ब्यौरों के अलावा ज्यादातर विवरण संस्मरण के रूप में ही मौजूद हैं। 2007 में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद ने 1857 पर उपलब्ध सामग्री की ग्रंथ सूची तैयार करवाने का प्रयत्न किया। लेकिन उसके सामने भी वही समस्या है कि इस तरह की परियोजनाओं में शामिल बौद्धक हलका सिर्फ उन्हीं किताबों से वाकिफ है, जो अंग्रेजी में उपलब्ध हैं। अगर समग्र दृष्टिकोण की बात की जाए, तो अंग्रेजी के और ज्यादातर विदेशियों के विवरणों के साथ ही भारतीयों द्वारा अपनी देशज भाषाओं में लिखी गई स्मृतियों की पड़ताल भी की जानी चाहिए। जरूरत इस बात की है कि लोक में गीतों और किस्सों के रूप में मौजूद सच को स्वीकार किया जाए और उसके लिए अलग संदर्भ, प्रतिमान विकसित किए जाएं।

1857 पर लिखे गए संस्मरणों में एक श्रेणी तो अंग्रेजी फौज में अफसर रहे लोगों के निजी विवरणों की है। इसमें *अप अमंग द पेंडीज* ( लेफ्टिमेंट विवियन मेंडील-1859), *सिपोय म्यूटिनी एज सीन बाई ए सबाल्टर्न* ( एडवर्ड बिवार्ट) जैसी तमाम किताबें शामिल हैं। यह प्रक्रिया 19 वीं सदी के अंत तक चलती रही क्योंकि तब तक ब्रिटिश अकादमिक हलकों में गदर के समुचित अध्ययन के लिए वातावरण बन चुका था। ज्यादातर इतिहासकारों ने इन निजी विवरणों को आत्मपरकता से भरा होने के कारण खारिज किया है। मगर अब जब आत्मपरकता इतिहास का एक हिस्सा बन चुकी है, इन किताबों पर भी नए सिरे से शोध अपेक्षित है। रसेल, भट्ट और सीताराम के वर्णनों में भी आत्मपरकता है, मगर यही चीज इनकी किताबों को गदर के अध्ययन के संदर्भ में विशिष्ट बनाती है। बहरहाल, गदर पर लिखने वालों में दूसरी श्रेणी उन सिविल अधिकारियों की है, जिनकी गदर के दौरान कुछ न कुछ भूमिका रही। इसमें सबसे ज्यादा मशहूर मथुरा के कलेक्टर एम थोर्नहिल की किताब *प्रोग्रेशन एंड सप्रेशन ऑफ इंडियन म्यूटिनी* रही। इसके अलावा पटना के कलेक्टर विलियम टेलर की किताब *अकाउंट ऑफ दि पटना क्राइसिस - ऑर थ्री मंथ्स एट पटना ड्यूरिंग दि इनसरेक्शन ऑफ 1857* भी काफी चर्चा में रहा, जिसनें उन्होंने पटना में गदर के दौरान अपने कदमों को सही ठहराने का भरपूर यत्न किया।

तीसरी कोटि ब्रिटिश अफसरों और कर्मचारियों के परिजनों की है, जो गदर के भोक्ता और द्रष्टा थे। इस कोटि में 19वीं सदी के उस कालखंड के दौरान उत्तर भारत में सक्रिय ईसाई पादरी और मिशनरीज के विवरण भी शामिल हैं। *डे बाई डे एट लखनऊ* (मिसेस एडिलेड) जैसी तमाम किताबों में बागियों से बचने के दौरान हुए अनुभवों और नस्लीय हिंसा का वर्णन है। अंग्रेजों ने अपनी अतिरंजनाओं भरी कहानियों को गढ़ने में इन ब्यौरों की भरपूर मदद ली। इसके अलावा ब्रिटिश प्रेस से जुड़े लोगों के ब्यौरे तो हैं ही। इसमें पत्र, डायरियां और रिपोर्ट्स शामिल हैं। बकौल इतिहासकार सव्यसाची भट्टाचार्य, 'इनमें आत्मआलोचना और आत्मप्रशंसा का मिलाजुला भाव देखने को मिलता है।'[25]

गदर पर उपलब्ध वैकल्पिक स्रोतों में एक महत्वपूर्ण कड़ी फ्रेंच डॉक्टर फेलिक्स मेइनर्ड द्वारा लिखी गई किताब फ्रॉम *डेलही टु कानपुर* भी है। फ्रेंच भाषा में लिखी गई इस किताब का बाद में पुर्तगाली में 1858 में अनुवाद किया गया। जेएनयू के अध्यापक डॉ. शोभन सन्याल इस किताब का बंगाली भाषा में अनुवाद कर रहे हैं। हिंदी में फिलहाल किताब के कुछ ही अंश उपलब्ध हो पाए हैं, मगर उनकी बिना पर गदर से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण मिथकों और सत्यों पर रोशनी पड़ती है। मसलन, मेइनर्ड लिखते हैं कि 'कलकत्ता के इलाके में आम आदमी अपरिचित संत लोगों के प्रति सचेत रहते हैं। वे संत बनकर लोगों को पिठा ( रोटी) बांट रहे हैं। आम आदमी उस एक पिठे के जैसे कई पिठे बनाकर उन स्थानों पर बांट रहे हैं, जहां संत नहीं जा पाते।'[26]

गौरतलब है कि रोटी और कमल के जरिए बगावत के संदेश को प्रसारित करने संबंधी तथ्यों को कमोबेश सभी ब्रिटिश इतिहासकारों ने नकारा है। इतना ही नहीं इस घटना के सौ सालों के बाद भारत का इतिहास लिखने वाले भारतीय इतिहासकारों ने संदेश प्रसारित करने संबंधी इस धारणा को नकारा है। मसलन बिपिन चंद्र संपादित किताब 'भारत का स्वतंत्रता संघर्ष' में *1857 का विद्रोह* अध्याय लिखने वाले इतिहासकार पनिकर लिखते हैं कि 'चपाती और कमल के फूल के माध्यम से संदेश पहुंचाने की बात भी संदेहास्पद है। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।'[27] मगर उस दौर में हुई घटनाओं के साक्षी रहे मेइनर्ड इस बात की पुष्टि करते हैं, कि रोटी के जरिए संदेश प्रसारित किया गया था।

इसी तरह से नाना साहब की अंग्रेजों के नरसंहार में भूमिका को लेकर अंग्रेजों ने खूब कागद कारे किए। तरह-तरह से नाना को एक क्रूर और नृशंस सामंत बताते हुए उनसे बदला लेने के नाम पर भारत में तमाम जगह कत्लेआम किया गया। मगर मेइनर्ड के दिए विवरणों की मानें तो नाना साहब ने अंग्रेजों को बचाने का काम किया। भट्ट भी

अपने कानपुर संबंधी विवरण में इस बात की तस्दीक करते हैं कि अंग्रेजों का नरसंहार नाना साहब की अनुमति के बिना हुआ। मेइनर्ड और भट्ट दोनों ही राजसत्ता के दबाव में आकर संस्मरण नहीं लिख रहे थे और दोनों ही घटनाओं के प्रथम दृष्टा थे, इसलिए उनके कानपुर संबंधी विवरण ज्यादा यथार्थपरक मालूम होते हैं। रसेल ने भी अपने कानपुर संबंधी विवरणों में इन बातों को दोहराया है कि अंग्रेज अफसर कानपुर में हुए बीवीघर हादसे में नाना साहब की संलिप्तता सिद्ध नहीं कर पाए थे। बहरहाल, मेइनर्ड किसी का हवाला देते हुए लिखते हैं कि 'मैं दृढता के साथ कह सकती हूं अगर नाना साहब न होता तो एक भी अंग्रेज मौत के हाथ से नहीं बच पाता। यूरोप के लोग सोचते हैं कि नाना साहब जनरल वेकलर के साथ संधि भंग किया था। लेकिन यह भूल है, क्योंकि कैदी हत्या की जो घटना हुई थी, वह गलतफहमी का फल है।'[28]

हालिया अध्ययन पद्धति में आए बदलावों को छोड़ दिया जाए तो गदर के भड़कने का सर्वमान्य कारण सिपाहियों को चर्बी मिले कारतूस देने की घटना को माना जाता रहा है। इतिहासकार तमाम तर्कों के द्वारा इसे सच साबित करने की कोशिश करते हैं कि अपना *धरम* बिगड़ता देख वे सिपाही भड़क उठे, जो अपनी जमीन जाने के कारण पहले से ही रोष में थे। इस किस्म के साधारणीकरण में एक किस्म की अकादमिक शरारत या मायोपिया नजर आता है। मार्क्स ने सात समंदर पार होते हुए भी घटनाओं का ब्यौरा जानकर यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि यह मात्र सिपाही विद्रोह नहीं है। उसी तर्ज पर मेइनर्ड भी लिखते हैं कि 'हाय रे पीटर, तुम जो बोल रहे हो, तो मैं कैसे उसका विश्वास कर लूं। तुम मुझको सांत्वना दे रहे हो कि चर्बी लगा कारतूस ही विद्रोह का कारण है, लेकिन तुम बहरे हो गए हो। तुम्हें सुनाई नहीं दे रहा है कि किस तरह से सिपाही और आम आदमी स्वतंत्रता के लिए पुकार रहे हैं। तुम अंधे जैसे हो, तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा कि समस्त भारत जाग रहा है।'[29]

गदर पर भारतीय विवरणों को मोटे तौर पर तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे लेखक आएंगे जो ब्रिटिश सत्ता से जुड़े हुए थे और गदर के बाद राज की समझ बढ़ाने में अपना योगदान देने के लिए उन्होंने विश्लेषणात्मक शैली में संस्णरणनुमा लेखन किया। पंडित कन्हैयालाल का *तारीख-ई-बगावत*, सैयद अहमद खान का *सरकशी-ए-बिजनौर* और मुइनुद्दीन हसन खान का *खदंगे-गदर* आदि इस श्रेणी में आते हैं। सिपाही सीताराम पांडे का विवरण राजसत्ता से प्रभावित तो है, लेकिन पूरी तरह से नहीं। इस अर्थ में यह उपरोक्त श्रेणी और राजसत्ता से प्रभावित हुए बिना स्वतंत्र और काफी हद तक निष्पक्ष लेखन करने वालों की श्रेणी में आएगा। इस दूसरी श्रेणी की एक महत्वपूर्ण

किताब मराठी यात्री विष्णुभट्ट लिखित *माझा प्रवास* (विष्णुभट्ट की आत्मकथा) भी है। इसके अलावा अंग्रेजी जासूसों के खत भी गदर के दौरान हुई गतिविधियों को समझने में मददगार हैं। इनमें दिल्ली में सक्रिय मुंशी जीवन लाल और रजब अली के खत खासे चर्चित रहे हैं।

1857 के दौरान प्रचिलत लोकगीतों पर नजर हालिया शोधों के दौरान गई। बद्री नारायण, पंकज राग, रश्मी चौधरी जैसे तमाम अध्येताओं ने इनके संकलन का काम किया है। गदर के दौरान तमाम जातियों के एक होकर लड़ने और ब्रिटिश राज की कारगुजारियों के बारे में जानने के ये दिलचस्प स्रोत हैं। साथ ही राष्ट्रवाद के विकास के किसी भी आख्यान को 1857 के बाद शुरु हुआ मानने वाले विचारकों के लिए भी ये लोकगीत एक नजीर हैं। 1857 पर निचले स्रोतों के जरिए इतिहास लेखन की वकालत करने वाले इन आलोचकों के मुताबिक लोक में मौजूद स्रोत ही आम जनता की भावदशा का सही हाल बताते हैं। बाकी ऐतिहासिक स्रोतों में कुलीनतावादी दृष्टि काम करती है। जाहिर है कि यह आरोप अंग्रेजों और उनकी सत्ता की छाया तले काम कर रहे भारतीय बुद्धिजीवियों के अलावा उन भारतीय इतिहासकारों पर लगता है, जिन्होंने पश्चिमी प्रतिमानों के आधार पर ही गदर की पड़ताल की है। इस बात को स्पंष्ट करने के लिए गदर के बाद सुंदर नाम की वेश्या द्वारा लिखा गया लोकगीत देखा जा सकता है।[30] इसमें सुंदर ने अंग्रेजों के पिट्ठू मिसिर नाम के शख्स द्वारा उसे अगवा करने और फिर नागर नाम के पहलवान द्वारा अंग्रेजों से अदावत लेते हुए उसकी रक्षा करने का विवरण दिया है। कहा जा सकता है कि भला सुंदर के गायन में क्या इतिहास है? तो फिर यहां सवाल यह भी पूछा जा सकता है कि क्या इतिहास केवल राजे-रजवाड़ों के वृतांत ही होते हैं। क्या इतिहास आम जनजीवन, उनकी समस्याएं और उस समय के लोक की रीति- नीति नहीं होता। भले ही इतिहास में समग्रता प्राप्त करना मुश्किल हो और चयनात्मक दृष्ट अवश्यंभावी हो, लेकिन उस स्थिति में चयन उद्देश्य भी स्पष्ट होना चाहिए।

विद्रोह की मूल भावना को समझते हुए सबसे पहले इसे स्वतंत्रता का पहला राष्ट्रीय आंदोलन बताने का श्रेय विनायक दामोदर सावरकर को जाता है। उन्होंने 1857 पर अपनी किताब *1857 का प्रथम स्वातंत्र्य समर* का प्रकाशन इस आंदोलन के 50 साल पूरे होने के बाद 1907 में किया। इसमें उनसे कुछ तथ्यात्मक भूलें हुई हैं, लेकिन ब्रिटिश राज में किया गया यह प्रयास सराहनीय तो है ही। अपनी किताब में सावरकर ने गदर के नायकों के चरित्र का उदात्त चित्रण किया है। साहित्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से मौजूदा वक्त में यह किताब भले ही एक भावुकतावादी प्रयास लगे, लेकिन अगर तत्कालीन परिस्थितयों

को ध्यान में रखकर इसका परीक्षण किया जाए तो इसका महत्व समझ में आता है। ऐसे समय में जब भारत के बुद्धिजीवी 1857 की विरासत से किनारा कर चुके थे, राष्ट्रीय राजनीति के फलक पर उभरे एक नेता और बुद्धिजीवी ने बाकायदा 1857 को देश का पहला स्वतंत्रता संग्राम कहा।

सावरकर से भी पहले जिस शख्स ने 1857 के गदर को स्वतंत्रता संग्राम कहा था, वह थे कार्ल मार्क्स । आजादी के बाद हुए शोध से सामने आया कि कार्ल मार्क्स ने 1858 में ही विद्रोह को राष्ट्रीय आंदोलन और क्रांति जैसे विशेषणों से नवाज दिया था। *न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून* के लिए लिखे गए एक लेख में मार्क्स लिखते हैं कि 'यह सिपाही विद्रोह न होकर एक राष्ट्रीय विद्रोह की घटनाएं थीं और सिपाही विद्रोह इस राष्ट्रीय विद्रोह के औजार थे।'[31] कई मार्क्सवादी इतिहासकर गदर पर इसके उलट नतीजे देते दिखते हैं। मसलन 1922 में प्रकाशित *इंडिया इन ट्रांजीशन* के लेखक एम. एन. राय लिखते हैं कि 'यह विद्रोह सामाजिक प्रतिक्रिया की प्रचंड भावना से उत्पन हुआ था। यह विद्रोह असल में अंग्रेजी सरकार के खिलाफ नहीं, बल्कि उस सरकार द्वारा लाए गए प्रगतिशील सामाजिक-राजनीतिक विचारों के विरुद्ध था।'[32]

हालांकि मार्क्स ने कई मायनों में दूरअंदेशी का परिचय देते हुए विद्रोह की मूल आत्मा को पहचाना, लेकिन इस कवायद में इस्तेमाल किए गए स्रोतों को लेकर अभी तक हिंदी में व्यापक बहस नहीं हुई है। रामविलास शर्मा से लेकर पी.सी. जोशी तक सभी ने मार्क्स को उदघृत किया और बताया कि 1857 किस तरह से आधुनिक चेतना लिए हुए था। लेकिन एक सच यह भी है कि यही मार्क्स 1853 तक ब्रिटिश राज को एशिया के इस हिस्से में आधुनिकता लाने में मददगार मानते थे। कहा जा सकता है कि मार्क्स के विचारों में क्रमशः विकास हुआ।

स्रोत संबंधी यह अध्ययन क्यों जरूरी हो जाता है, इसकी बानगी मार्क्स के साथी एंगेल्स के 1857 संबंधी लेखन से मिलती है। एंगेल्स ने एक लेख में सिखों को हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टर दुश्मन बताया है।[33] संभवतः एंगेल्स भी उस स्थापित मिथ के शिकार हुए जो अंग्रेज बुद्धिजीवियों और इतिहासकारों द्वारा अंग्रेज-सिख युद्ध की समाप्ति के बाद फैलाया गया था। भारतीय स्रोतों तक पहुंच न होने और यहां से उनकी भौगोलिक दूरी के कारण मार्क्स और एंगेल्स की विवेचना की अपनी सीमाएं थीं। उनके विश्लेषण की कमियों की तरफ इतिहासकार इरफान हबीब ने ध्यान दिलाया है। हबीब के मुताबिक 'विद्रोह को ध्यान में रखने पर हम पाते हैं कि अवध में किसानों और सामंतों दोनों ही

वर्गों को एक ही स्रोत यानी ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन से उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा था। जाहिर है कि इसे कृषि क्रांति के ढांचे में फिट नहीं किया जा सकता। ...इतना ही नहीं मार्क्स ने विद्रोह की जिन ग्रामीण जड़ों को रेखांकित किया था, उनके अलावा शहरी तत्वों ने भी इस विद्रोह में हिस्सा लिया था।'[34]

गदर के पुनर्पाठ में सिर्फ उस वक्त क्या हुआ, अकादमिक तहकीकात यहीं तक सीमित नहीं रहती। वरन अतीत भविष्य में किस शक्ल के साथ पहुंचा, इस दृष्टि से भी आख्यान रचे या कहें कि खोजे गए हैं। इन स्मृतियों का शिल्प भी अलहदा है। ख्वाजा हसन निजामी देहलवी नाम के उर्दू के बहुत नामचीन विद्वान हुए हैं। उन्होंने गदर के बारे में तमाम किताबें लिखीं। इसमें सबसे ज्यादा मशहूर किताब है *बेगमात के आंसू*। इस किताब में मुगलिया खानदान के बचे हुए लोगों की बर्बादी का हाल कुछ इस अंदाज में बयां किया गया है कि सुनने वालों का कलेजा मुंह को आ जाए। निजामी साहब 1880 में पैदा हुए थे और 1955 में उनका इंतकाल हुआ। उपरोक्त किताब में उन्होंने पुरानी दिल्ली में रहने वाले तमाम बुजुर्गवार के हवाले से मुगलों के आखिरी वक्त और जिनका आखिरी वक्त गदर के भी कुछ दशकों बाद तक खिंचा, उनका वर्णन किया है। गदर का यह पक्ष इतिहास के तर्कों से दूर मानवीय त्रासदी वाला चेहरा है, जहां हर मौत एक कहानी है, एक अंत है और कहीं एक शुरुआत भी। बेगमात के आंसू किताब सबसे पहले *गपरे दिल्ली के अफसानों* के नाम से प्रकाशित हुई थी। किताब में अंग्रेजों के बारे में सीधे तौर पर कोई टिप्पणी नहीं की गई थी, फिर भी प्रकाशन के बाद इसे कई बार जब्त किया गया। इस किताब में ज्यादातर कथानक पात्रों के बयान की तरह सामने आते हैं। हालांकि बीच-बीच में निजामी साहब ने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए पाद टिप्पणियां भी की हैं।

गदर पर एक लेखन वह भी है, जिसे हम ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। हिंदी साहित्य में इस कोटि में आने वाले उपन्यासों के लेखकों में वृंदावनलाल वर्मा से लेकर अमृत लाल नागर और कमलाकांत त्रिपाठी तक एक लंबी परंपरा है। वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासों में सिद्धहस्त माने जाते थे और उनका *रानी लक्ष्मीबाई* उपन्यास इतिहास की तरह प्रामाणिक माने जाने की हद तक मान्य और लोकप्रिय हुआ। नागर जी ने अवध के इलाके में गदर की बिखरी कहानियों को जोड़ने के लिए खासा जतन किया। उन्होंने *गदर के फूल* के नाम से इतिहास का आख्यान नए सिरे से रचने की कोशिश की। गदर के इतिहास को दोबारा लिखने में तो ऐतिहासिक उपन्यासों की भूमिका कुछ खास नहीं होती, लेकिन जब आज के भारत की गदर को लेकर बनी जातीय चेतना की बात की जाएगी, तो इन आख्यानों का रोल भी देखा-परखा जाएगा।

1857 में किसान और कामगार वर्ग की भूमिका को स्थापित करने में सबआल्टर्न इतिहासदृष्टि के पुराधाओं ने भी खासा जतन किया है। भारत में सबआल्टर्न स्टडी के जनक माने जाने वाले रणजीत गुहा के एक निबंध 'द *प्रोज ऑफ काउंटर इनसर्जेंसी*' से गदर का स्वरूप समझने में काफी मदद मिलती है। गुहा का तर्क है कि 'किसी भी बगावत के दौरान किसान विद्रोहियों को इतिहास का विषय बनाए जाने में प्रयत्नपूर्वक नकार सामने आया है।'[35]

गुहा के मुताबिक 'कोई भी किसान विद्रोह निश्चित रूप से उपनिवेशवादी शासन द्वारा उस पर प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए गढ़े गए नियमों के उल्लंघन से शुरू होता है।... किसानों को एक विचारसत्ता के तौर पर माने जाने के खिलाफ कुछ सेट पैटर्न काम करते हैं। मसलन किसानों की स्थिति को संपत्ति की संरचना, संस्थागत कानूनों आदि के द्वारा हाशिए पर पहुंचा दिया जाता है, धर्म इस स्थिति पर नैतिकता के विधान की मुहर लगाता है, इसे स्वीकार करने का वातावरण तैयार करता है और फिर परंपरा से यह वर्ग इसी नियति के साथ करार करने को अभ्यस्त हो जाता है।'[36]

गुहा के मुताबिक इन सब स्थितियों में और दमन की पराकाष्ठा को देखने के बाद भी अगर किसान और कामगार वर्ग बगावत करता है तो यह स्वतः स्फूर्त या किसी बहकावे में नहीं बल्कि बहुत सोच-समझकर करता है। गुहा का तर्क है कि 'अब तक के इतिहास में किसानों की बगावत को बहुत परंपरागत तरीके से देखा गया। गोया वे अपने जमींदारों और राजाओं के पीछे भीड़ में शामिल हो गए हों या फिर उन्हें सिपाहियों के साथ जुड़ा दिखाया गया है। लेकिन इसमें सिर्फ किसानों के शामिल होने के कारणों पर पड़ताल नहीं की गई है। अगर की भी गई है तो इसे तमाम आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक कारण गिनाने के दौरान चलताऊ ढंग से काउंट कर लिया गया है। किसानों की चेतना पर कोई बात नहीं करता और करता भी है तो नकारात्मक तरीके से।'[37]

अगर 1857 के विद्रोह पर इस प्रतिमान को लागू करें तो उन तमाम स्थापनाओं का जवाब मिल जाता है जो विद्रोह में शामिल हुए अवध और हिंदुस्तान के तमाम दूसरे अंचल के किसान और कामगार तबकों की मनःस्थिति पर सवाल उठाते हैं। इस संदर्भ में जफर के ऐलान पर ही ध्यान देना जरूरी है। ऐलान के उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि 'यह जाहिर है कि अंग्रेजों ने भारत में विदेशी चीजों की मशहूरी करके यहां के बुनकरों, रुई धुनकरों, बढ़इयों, लोहारों, मोचियों आदि का काम धंधा चौपट कर दिया और उनकी रोजी छीन ली, जिसकी वजह से ये सभी गरीबी और तबाही के शिकार हो चुके हैं।'[38]

गदर में सिर्फ सिपाहियों की ही नहीं, बल्कि उत्तर भारत के दुखी ग्रामीण समाज की भी हिस्सेदारी थी। इसलिए आवश्यक है कि उसके कारणों की तलाश केवल सेना या सामंत वर्ग के असंतोष में नहीं बल्कि उन बुनियादी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की एक लंबी प्रक्रिया में की जाए, जिसने कंपनी राज की पहली सदी में किसान समुदाय को तबाह कर दिया और उसकी धार्मिक व्यवस्था में भी हस्तक्षेप शुरू कर दिया।

शेखर बंदोपाध्याय के मुताबिक 'अठाहरवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक स्थायी सेना बनाने के क्रम में कंपनी की सरकार ने देसी समुदायों की परंपराओं और रीतिरिवाजों का सम्मान किया तथा जानबूझकर सेना की एक सवर्ण पहचान को बढ़ावा दिया जाता रहा। यह बात खास तौर पर बंगाल सेना के बारे में सच थी, जिसका प्रधानतः सवर्ण चरित्र था। उसमें मुख्यतः ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार शामिल थे तथा वॉरेन हेस्टिंग्ज के आदेशों के अनुसार सेना के प्रशासन में जाति के नियमों, खानपान और विदेश यात्रा संबंधी प्रतिबंधों का निष्ठा से पालन किया जाता था। कंपनी का मकसद था एक साझी हिंदुस्तानी पहचान के आधार पर सेना में अनुशासन कायम करना।'[39] यह हिंदुस्तानी पहचान क्या थी, इसे समझने के प्रयासों के तहत ही शोध का विषय 1857 का हिंदी समाज रखा गया है।

गुहा ने 1857 की पड़ताल निचले स्रोतों से करने के पहले इस विषय पर उपलब्ध सामग्री को तीन वर्गों में विभाजित किया है। उनके मुताबिक़ आधार स्रोत सरकारी या सरकार द्वारा स्वीकृत स्रोतों को ही माना गया है। सिपाही, मिशनरी, या ऐसे गैरसरकारी लोग जो सरकार या राज से जुड़े हुए हैं, मसलन व्यापारी आदि। सरकारी लेखन सरकार के काम के लिए और जानकारी के लिए और भविष्य की रणनीति तैयार करने के लिए था। इसमें दूसरे पक्ष की सोच के लिए न के बराबर गुंजाइश थी और जब कभी ऐसा होता भी था तो अलग से परिशिष्ट के रूप में। दूसरी बात, इसे लिखने वाले इसमें हिस्सा भी ले रहे थे और ज्यादातर ने फौरन बाद इसे लिख डाला। उनके नजरिए में वह व्यापकता नहीं आ सकती है जो इतिहास लेखन और उस पर मूल्य निर्णय देने के लिए अपेक्षित है। भारतीय इतिहासकारों ने भी हालिया विमर्शों को छोड़ दें, तो ज्यादातर इसी सामग्री का इस्तेमाल किया है।

अगर समकालीनता को पैमाना मानें तो शोध में प्रस्तावित तीनों ही ग्रंथ इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। सीताराम ने न सिर्फ गदर में कंपनी की तरफ से हिस्सा लिया, बल्कि उससे पहले अफगान, सिख और नेपाल युद्ध में भी हिस्सा लिया। उन्होंने सिपाहियों की संस्कृति पर विस्तार से बात की है। विष्णुभट्ट तो गदर के दौरान तमाम प्रभावित

इलाकों का दौरा सा करते रहे और इस दौरान देखी-सुनी बातों पर विस्तार से लिखा। इसी तरह रसेल अंग्रेज लश्कर के साथ गदर के तमाम प्रमुख केंद्रों मसलन, कानपुर, लखनऊ और दिल्ली गए। इस दौरान उन्होंने इन शहरों की जीवंत तस्वीर खींची।

गुहा के मुताबिक दूसरी कोटि के स्रोतों में सरकारी गजेट या सरकार के साथ संबद्ध वर्गों का लेखन आता है, जिनमें घटनाओं का ब्यौरा ज्यादा आधिकारिक तरीके से दिया गया है। मोईनुद्दीन खान का दिल्ली ब्यौरा या सय्यद अहमद खान का असबाबे-बगावत-ए-हिंद इसी श्रेणी में आएंगे। जाहिर है कि प्रभु वर्ग के प्रति निष्ठा के कारण इस तरह का लेखन तत्कालीन समय-समाज की तस्वीर तो खींचता है, लेकिन भारतीयों के पागलपन की तमाम लानत-मलानत करने के साथ। मसलन, सय्यद असबाब-बगावते-हिंद में गदर के कारणों की विवेचना करते हुए यहां तक कह जाते हैं कि 'मुसलमानों का बहुत जोरों से आपस में साजिश और मशवरा करना इस इरादे से कि हम आपस में एक होकर गैरमजहब के लोगों पर जिहाद करें और उनकी हुकूमत से आजाद हो जाएं, निहायत बेबुनियाद बात है।'[40] इस कारण इन ऐतिहासिक ब्यौरों को पढ़ते समय उस बाध्यता का ध्यान रखना होगा, जो इनके लेखकों के सामने थी।

तीसरी श्रेणी में वे विवरण आते हैं, जो गदर के बीतने के काफी वक्त बाद लिखे गए। इस तरह के लेखन में निष्पक्षता के तर्क का पालन करने के लिए काफी गुंजाइश रहती है। यह लेखन पूर्वमौजूद साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन और निष्कर्ष पर आधारित हैं। क्रिस्टोफर हिबर्ट जैसे सैन्य इतिहासकारों का लेखन इसी श्रेणी में आता है। अगर कालक्रम के अनुसार देखें तो विष्णुभट्ट ने भी 1883 में यह किताब लिखी थी। गुहा ब्रिटिश इतिहासकारों की इस तीसरे श्रेणी में आने वाली जमात की निष्पक्षता पर सवाल उठाते हुए लिखते हैं कि 'ये सभी लेखक उपनिवेशवाद के प्रति अपने तमाम घोषित लक्ष्यों के साथ समर्पित थे। इस तरह के लेखन की टेक सामने दिखते सीधे-सपाट तथाकथित सच पर ज्यादा आधारित है।'[41] जाहिर है कि ऐसे में उनकी पक्षधरता पर सवाल उठाने के बजाय इसे संचालित करने वाली विचारधारा की चीरफाड़ की जरूरत है।

ऐसा काम हाल के इतिहासलेखन संबंधी प्रयासों में बड़े पैमाने पर हुआ है। लेकिन जरूरत इसके समानांतर उपलब्ध भारतीय स्रोतों पर भी उतनी ही शिद्दत से ध्यान देने की है। इसी क्रम में विष्णुभट्ट की आत्मकथा और रामकहानी-सीताराम के पाठ महत्वपूर्ण हैं। विष्णुभट्ट विद्रोह को आम जनता की नजर से देखते हैं। भट्ट 1856 में महाराष्ट्र के वरसई इलाके से चले थे हिंदुस्तान, ताकि कुछ धन कमाया जा सके। लेकिन इधर वह गदर में फंस गए। किसी तरह जान बचाते लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे, नाना साहब आदि से

मिलते-मिलाते भट्ट 1859 में वरसई वापस लौटे। मगर किताब उन्होंने लिखी 1883 में। इतने लंबे अंतराल के बाद भी किताब लिखने के दौरान उनसे तथ्यात्मक भूलें न के बराबर हुई हैं। इसकी ताकीद बाद में उनकी किताब पर काम करने वाले मराठी इतिहासकार दत्तो वामन पोतदार और प्रोफेसर एन. आर.फाटक ने की है।[42] हिंदी में इस किताब का सबसे पहले अनुवाद अमृत लाल नागर ने *आंखों देखा गदर* के नाम से किया। मगर नागर ने माझा प्रवास की उस प्रति का इस्तेमाल किया था, जो विवादित और संशोधित थी। दूसरी बार किताब का अनुवाद लेखक और पत्रकार मधुकर उपाध्याय ने किया। अनुवाद के पीछे की विचार दृष्टि को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय लिखते हैं कि 'यह माना जा सकता है कि विष्णुभट्ट से पहले 1857 का देसी इतिहास बताने वाला कोई नहीं था। अवध में सीताराम पांडे 1857 के प्रत्यक्षदर्शी थे। विष्णुभट्ट की किताब उस आलोचना से मुक्त है, जो सीताराम पांडे को अंग्रेजी फौज में होने के कारण झेलनी पड़ी।'[43]

रामकहानी-सीताराम की कहानी कई घुमावदार पेंच लिए है। सीताराम पांडे ने अपनी किताब 1860 में पूरी की और 1861 में अपने बेटे के हाथों अपने अधिकारी जेम्स नॉरगेट के पास पहुंचाई। नॉरगेट ने उनसे इस आश्वासन के साथ किताब लिखवाई थी कि तुम्हारी पेंशन नहीं रोकी जाएगी, अपने अनुभवों को निर्भय होकर लिखो। सीताराम 1857 की घटनाओं के लिए पागलपन भरी हवा को जिम्मेदार ठहराते हैं, लेकिन इसके साथ-साथ ही अंग्रेज सरकार को तमाम नसीहतें भी दे डालते हैं। वह बताते हैं कि किस तरह से सिपाहियों की दैनंदिन परिस्थितियां मुश्किल होती गईं। इसके अलावा वह क्रिस्तान पादरियों द्वारा हिंदुओं का धर्म खराब करने की कोशिशों का भी ब्यौरा देते हैं। सीताराम की किताब भी उसी किस्सागो अंदाज में लिखी गई है, जैसे विष्णुभट्ट की आत्मकथा। इसमें हिंदुस्तानी जीवन के तमाम अंतर्विरोध और बारीक प्रसंग सामने आते हैं। उन्होंने 1812 से लेकर 1860 तक कंपनी की सेवा की। किताब अवधी में लिखी गई थी और 1963 में उसका लंदन के *द टाइम्स* में नॉरगेट द्वारा किया गया अनुवाद छपा। गौरतलब है कि इसी अखबार के लिए रिपोर्टिंग करने को रसेल भारत में थे। सीताराम की कहानी के साथ सबसे बड़ा पेंच इसकी मूल प्रति के न मिलने को लेकर है। भारत और ब्रिटेन की किसी भी लाइब्रेरी में रामकहानी-सीताराम की मूल अवधी प्रति नहीं है। अवध में उनके परिवारजनों के पास भी यह उपलब्ध नहीं है। अगर है तो सीताराम की डायरी के नाम से किताब का अंग्रेजी अनुवाद। लेकिन सिर्फ इसी वजह से किताब का महत्व या कहें कि प्रामाणिकता कम नहीं हो जाती। इस किताब का अवधी और हिंदी में रूपांतरण करने वाले उपाध्याय ने किताब की भूमिका में उन तमाम मुश्किलों का जिक्र किया है, जो इस किताब के सामने आई हैं। उनके मुताबिक 'बांबे आर्मी के एक इतिहासकार सर पैट्रिक

कैडल ने वर्षों सीताराम पांडेय पर काम किया और उनका निष्कर्ष था कि यह किताब सीताराम की ही है।'[44] इस किताब को हिंदी समाज के सामने लाने का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उपाध्याय ने लिखा है कि 'सीताराम पांडेय की किताब उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ से लेकर मध्य तक की स्थिति के एक प्रत्यक्षदर्शी गवाह के रूप में सामने आती है। इसमें सिर्फ ब्रितानी फौज के अभियान ही नहीं, बल्कि ब्रितानी सोच और उस समय की सामाजिक संरचना को भी मोटे अर्थों में देखा जा सकता है।'[45]

मगर इन दोनों किताबों के आधार पर सामाजिक संरचना के बारे में कोई भी स्थापना देने से पहले यह ध्यान देना जरूरी होगा कि दोनों ही लेखक यानी भट्ट और सीताराम समाज के ब्राह्मण तबके से आते थे, जिसके निचली जातियों के बारे में अपने पूर्वाग्रह रहे हैं। वैकल्पिक इतिहास के भी जो स्रोत लिखित में मौजूद हैं, उनमें भी ज्यादातर ब्राह्मणों या दूसरी ऊंची जातियों द्वारा लिखे गए हैं। इसलिए इनमें दलित जाति के नायकों का जिक्र तो मिलता है, लेकिन चलताऊ ढंग से। इन किताबों में ब्राह्मणी कर्मकाडों या लोक जीवन के विश्वासों में भी उच्च वर्ग के विश्वासों का ज्यादा जिक्र है। झलकारी बाई, भाऊ बख्सी, पूरन कोरी, गरौठा के बसोर बाबा जैसे गदर के नायकों का जिक्र न के बराबर है। ये नायक लिखित टेक्स्ट में कम और लोगों की स्मृतियों, लोकगीतों और गांव के चबूतरों में ज्यादा सुरक्षित रह गए हैं।

रसेल की *माई इंडियन म्यूटिन डायरी* इस शोध का तीसरा आधार ग्रंथ है। डायरी के पहले ही चैप्टर में रसेल भारत आने से पहले की परिस्थितियों का जिक्र करता है। उसके मुताबिक 'इंगलैंड में अब तक सिर्फ पत्रकार और स्टेट्समैन ही उस महान लक्ष्य के प्रति समझ का भाव रखते थे, जिसके मुताबिक भारत में ब्रिटिश शासन का मकसद यहां के असभ्य नागरिकों को सभ्यता का महान ब्रिटिश पाठ पढ़ाना है। इस यकीन को पुख्ता करने में मध्य काल की उन गढ़ी गई कहानियों ने भी अहम योगदान दिया, जो ग्रीस के स्कीला, सिसली के वेस्पर्स के खिलाफ और बार्थोलोम्यू के जन्मदिन की पूर्व संध्या पर हुए गदर और अल्सटर में 1641 में हुए बलवे के दौरान हुई घटनाओं का अतिरंजित ब्यौरा देती हैं। ...मुझे कभी भी इन विवरणों को पुष्ट करने के लिए मजबूत सबूत नहीं मिले।'[46] जाहिर है कि खुद रसेल भी इतिहास निर्धारण की इस प्रक्रिया पर भारत आने से पहले ही सवाल खड़े करने लगे थे। रसेल ने आगे लिखा भी कि 'भारत से बलवे के बारे में जो भी जानकारी आ रही थी वह कलकत्ता के लोगों के जरिए आ रही थी और यह शहर और यहां के लोग गदर के मुख्य इलाकों से इतने दूर थे कि खबरों की विश्वसनीयता सहज ही समझी जा सकती थी। हालांकि गदर के खूनी विवरणों को सुनकर

हमारे मन में पहले से ही एक धारणा बन चुकी थी।'[47]

रसेल भारत आने से पहले क्रीमिया का युद्ध कवर कर चुके थे और बतौर पत्रकार उनकी काफी ख्याति थी। उनके भारत आने तक विद्रोह काफी हद तक शांत हो चुका था। लेकिन अंग्रेजी सेना के दोबारा विद्रोह के क्षेत्रों पर कब्जा जमाने के दौरान वह लश्कर के साथ मौजूद रहे। डायरी के सातवें अध्याय में रसेल सर कोलिन कैंपबेल, जो ब्रिटिश अभियान के सेनानायक थे, के साथ हुई अपनी डील के बारे में बताते हैं। उनके मुताबिक 'कैंपबेल ने सभी गोपनीय दस्तावेजों को दिखाने का वायदा किया था, मगर इस शर्त के साथ कि इसे भारत में जाहिर नहीं किया जाएगा।'[48] इसके पीछे युद्ध की रणनीति को गुप्त रखने के साथ ब्रिटिश हुकूमत का अपनी नृशंसताओं को छिपाने का आग्रह भी काम कर रहा था।

रसेल की इस डायरी की अपनी सीमाएं भी हैं। डायरी के आखिरी यानी 37वें अध्याय में वह लिखते हैं कि 'मेरा ज्यादातर वक्त कैंपों में ही बीता और असली भारत को देखने की तमाम संभावनाओं से मुझे वंचित किया गया।'[49] इसके बावजूद उनका लेखन हमें अंग्रेजों की मानसिकता के भीतर तमाम औपनिवेशिक आग्रहों के पार जाकर झांकने का मौका मुहैया कराता है।

## 1857 - एक संदर्भ बिंदु

1857 के पाठ-कुपाठ और पुनर्पाठों का भी एक भारी-भरकम इतिहास तैयार किया जा सकता है। दरअसल यह बात अभी इतनी बीती हुई भी नहीं कि इसे मध्यकालीन दस्तावेजों के हवाले कर निश्चिंत हो जाया जाए। यह किसी एक रियासत या सूबेदार की लड़ाई का मसला भी नहीं, हालांकि गदर से पहले पानीपत की तीसरी लड़ाई या प्लासी या फिर बक्सर की लड़ाई को भी हिंदुस्तान की शक्लोसूरत बदलने वाली तारीख में शामिल किया जा सकता है। गदर के बाद हिंदुस्तान ने आजाद होने के लिए जो तमाम राजनैतिक और सामाजिक आंदोलन किए उनके बारे में तो विस्तार से ब्यौरे मौजूद हैं और वहां सारी बहस तथ्यों और सत्यों और उनकी व्याख्याओं को लेकर है। मगर 1857 कुछ अलग है। यहां सिर्फ सत्ता गंवाए बैठे सामंत और जमींदार नहीं, यहां लड़ाई के इक्का-दुक्का मोर्चे नहीं, यहां तो खुद अंग्रेजों द्वारा प्रशिक्षित की गई पलटन के वे सिपाही हैं, जिन्होंने सब्र का प्याला लबरेज होने पर बागी रास्ता अपना लिया। यहां बेनीमाधव, अहमदुल्ला शाह मौलवी जैसे अनगिनत नाम हैं, जो आखिरी तक अंग्रेजों को छकाते रहे।

यहां ऐसे लाखों लोग हैं, जिसका नाम,पता और काम हमें नहीं पता, पता है तो सिर्फ इतना कि गदर के फैलने के बाद इन लोगों ने भी अपने असंतोष को मुल्तवी नहीं किया और सत्ता की ताकत को पूरी शिद्दत के साथ ठेंगा दिखाते हुए अंग्रेजी प्रतीकों को ध्वस्त कर दिया। बाद में इन्हीं ज्यादातर अनाम शहीदों ने अंग्रेजों के क्रूर पलटवार को भी खुद पर झेला।

1857 पर काम करना उस विचार पर काम करने या कहें कि समझने की तरह है, जिसे हम भारत कहते हैं। यह पहला विद्रोह है जो तत्कालीन हिंदुस्तान के बाहर के क्षेत्रों में भी फैला, इसमें तमाम विरोधी या कहें कि अंतर्द्वंद्वों से घिरी विचार शक्तियां सक्रिय रहीं, सामूहिक प्रतिरोध के तमाम आयाम सामने आए और पहली बार जन की बड़े पैमाने पर भागीदारी दिखी। साथ ही दमन के पैमाने पर भी यह विद्रोह भारत ही नहीं दुनिया के इतिहास में अलग जगह रखता है। 1857 में कुछ ऐसा था, जो बाद में कांग्रेस अपने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान बरकरार नहीं रख पाई। गदर के वक्त हिंदू ज्यादा हिंदू था और मुसलमान ज्यादा मुसलमान, इसके बावजूद ब्रिटिशों के खिलाफ जब साझा हितों के लिए लड़ाई की बारी आई तो धर्म बांटने के बजाय जोड़ने वाला कारक बन गया। नाना साहब के इश्तेहार उर्दू भाषा में आए, लक्ष्मी बाई के ऐलान में कुरान शरीफ की आयतों को उद्धरित किया गया और मुगल बादशाह ने ईद से पहले दिल्ली के तमाम थानेदारों को छह घंटे में इलाके की सारी गायों की गिनती करने का फरमान दिया, ताकि गोकशी को मुकम्मल तरीके से रोका जा सके। इस प्रसंग में इरफान हबीब का एक इंटरव्यू याद आता है, जिसमें वह जिहादी शब्द पर तस्वीर साफ करते हुए कहते हैं कि जिहाद का अर्थ है इंसाफ की लड़ाई। दरअसल जिहाद का अर्थ होता है कोशिश। इस क्रम में हबीब 1957 में पाकिस्तान के गुलाम रसूल की किताब का हवाला देते हैं, जिसका शीर्षक है 1857 के मुजाहिद। 'इन मुजाहिदों में शामिल हैं बेगम हजरत महल, रानी लक्ष्मी बाई और नाना साहेब।'[50] धर्म का स्वरूप कैसा था, इसे बताने के लिए इससे बेहतर कोई उदाहरण नहीं हो सकता।

तो फिर ऐसा क्या हुआ कि 1857 के बाद स्थितियां बदलने लगीं। इसकी एक व्याख्या तो यह हो सकती है कि ब्रिटिश राज ने बांटो और राज करो की नीति पर अमल किया। मगर विकसित होते राष्ट्रवाद को सिर्फ इसी वजह से मुआफी नहीं मिल जाती कि वह ब्रिटिश नीति को समझ नहीं पाया और हिंदू और मुस्लिम दो अलग-अलग कौमों के तौर पर सतही राजनीतिक फायदों के लिए बंट गए।

धर्म की तरह ही उत्तर भारतीय समाज के प्रतिगामी होने के आरोपों पर भी 1857 के तई

रोशनी पड़ती है। यह सही है कि उस समय जाति-पांत बहुत ज्यादा था और बागियों को भड़काने में कुछ हद तक ब्रिटिश शासन की पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था में दखलंदाजी भी जिम्मेदार थी। मगर सिर्फ इसी आधार पर इस लड़ाई को खारिज कर देना संकीर्ण दृष्टिकोण होगा। 1857 के भारतीय आख्यानों का अध्ययन हमें उस समय के समाज की रीति-नीति की जटिलताओं को समझने में मददगार साबित होता है। मसलन, सीताराम की कहानी। सूबेदार सीताराम पांडे ने अपनी किताब के उत्तरार्द्ध में गदर के दौरान अवध के गांवों का जिक्र किया है। लेकिन इससे पहले के हिस्से में उन्होंने कंपनी के परचम के तले लड़े गए लंबे युद्धों और रेजीमेंट के माहौल के बारे में विस्तार से लिखा है। जाति बंधन हों या सूदखोरी की प्रथा या फिर अंग्रेजों की भारतीयों के मन में क्रमशः बनती छवि, सीताराम का लेखन फिलवक्त उपलब्ध उन चुनिंदा विस्तृत स्रोतें में से एक है, जिसके जरिए एक धर्मभीरु भारतीय के मन की हलचलों को समझा जा सकता है। इसके अलावा सीताराम की कहानी अभी तक संज्ञान में आया एकमात्र ऐसा दस्तावेज है, जो किसी भारतीय सिपाही द्वारा लिखा गया हो। बाकी ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज अधिकारियों के संस्मरणों और व्याख्यों से तो इतिहास पटा पड़ा है।

विष्णुभट्ट की आत्मकथा भी भारतीय संदर्भों में एक विशिष्ट ग्रंथ है। भट्ट ने तांत्या, लक्ष्मीबाई और नाना साहब का आंखों देखा-कानों सुना हाल तो बताया ही है, गदर से जुड़े कई भ्रमों पर भी एक दूसरा पक्ष सामने रखा है। मसलन बीवीघर हादसे के बारे में नाना की असहमति या लक्ष्मीबाई का युद्ध के मैदान में व्यवहार। भट्ट मराठा अंचल के रहने वाले थे, जो तत्कालीन समय संदर्भों के हिसाब से हिंदुस्तान के बाहर का, लेकिन व्यापक अर्थों में उसी मिट्टी से जुड़ा क्षेत्र था। इसीलिए उनके लेखन में विद्रोहियों के साथ सहानुभूति दिखती है। विद्रोह के नायकों के वर्णन में यह पहलू साफ तौर पर उभर कर सामने आता है। उनका वर्णन एक निरपेक्षता का भी एहसास देता है।

शोध में प्रस्तावित तीनों किताबों को एक साथ पढ़ने पर तीन निगाहों की एक तस्वीर बनती है, विद्रोह से प्रभावित इलाकों और उसमें भागीदार रहे समाज की तस्वीर। सीताराम पांडे खालिस अवध के इलाके से थे, किसान परिवार से थे, सिपाही थे और सवर्ण थे। गौरतलब है कि इन्हीं अवयवों के साथ विद्रोह की शुरुआत करने वाले सिपाहियों की तस्वीर बनती है। विष्णुभट्ट भी सवर्ण तबके से थे। विद्रोह का उनका वर्णन एक किस्म की आत्मीयता लिए है, जो प्रत्यक्ष रूप से घटनाओं को देखने के कारण उपजी है। यह एक भारतीय का विवरण है, जो आत्मीयता के साथ तटस्थता भी बरतने में सक्षम रहा है। इसका एक प्रमाण विद्रोह के बारे में किसी भी तरह का अंतिम मूल्य निर्णय देने से

बचना भी है। रसेल भी अपने विवरण में निरपेक्षता बरतने की भरपूर कोशिश करते हैं। हालांकि उनका ज्यादातर वर्णन लश्कर के अंदर के हालात और युद्ध रणनीतियों पर है, लेकिन जहां कहीं भी उन्होंने भारतीय जीवन की झांकियां प्रस्तुत की हैं, उस समय के भारत के आक्रोश और आम आदमी की बुरी हालत की सही टीका पेश हुई है। एक ब्रिटिश के हाथों लिखे जाने के कारण यह टीका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है।

इस अध्ययन के दौरान इतिहासकार हेडन व्हाइट की सोच बहुत काम की साबित हुई। व्हाइट के मुताबिक, 'इतिहास से प्रश्न किस तरह से पूछा जाए कि यह अधिक प्रामाणिकता के साथ उपस्थित हो। समझने के लिए रचनात्मक लेखन से तकनीक सीखना चाहिए। क्या-क्या वर्णित होता है और इन वर्णनों में किस तरह की प्रवृत्तियां काम कर रही होती हैं, किन-किन प्रकार की छवियां काम कर रही हैं, यह सब कुछ इतिहास की वृहत्तर सीमा ( मेटा हिस्ट्री) में समाहित हो जाता है।'[51] गौरतलब है कि सीताराम या विष्णुभट्ट के वर्णन में कई मिथकों और विश्वासों का वर्णन है। विष्णुभट्ट तमाम सपनों और दैवीय प्रेरणाओं का जिक्र करते हैं। तो क्या इसे कोरा साहित्य माना जाए ? इसी तरह सीताराम की डायरी पर उठे विवादों के दौरान यह सवाल किया गया कि अवध का एक अनपढ़ सिपाही अपने विचारों को इतनी तरतीबी के साथ कैसे व्यक्त कर सकता है ? दरअसल यह उलझन आधुनिक ज्ञान मीमांसा के मूल प्रस्थान के साथ जुड़ी समस्या है, जिसमें समझदार और पढ़े-लिखे एक दूसरे के पर्याय मान लिए गए हैं। विष्णुभट्ट और सीताराम अपने इलाके के नामी किस्सागो थे, जिन्होंने घटनाओं के वर्णन में जब-तब रस लिया होगा, लेकिन जड़ता की हद तक शुद्धता से तो सिर्फ तथ्य संकलन ही किया जा सकता है। किसी भी किस्म के इतिहास लेखन में बीच के अंतरालों को तो इतिहासकार अपनी समझ से ही भरता है। जाहिर है कि इसी कारण इतिहास एक सतत और समकालीन अवधारणा मानी जाती है।

इन्हीं सब विचारों को ध्यान में रखकर शोध के अगले तीन अध्यायों में 1857 के यथार्थ, स्वप्न और ऐतिहासिकता से जुड़े सवालों पर बात की गई है। लोकजीवन के साथ ही संस्मरणों की भाषा-शैली पर भी विचार किया है।

# संदर्भ सूची


1 नेशनल एंड इट्स फ्रेगमेंट्स, पार्थ चटर्जी ओमनीबस, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 6

2 माई इंडियन म्यूटिन डायरी, विलियम हावर्ड रसेल, कैसल एंड कंपनी, लंदन, पेज 28

3 विष्णुभट्ट की आत्मकथा, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, पेज 52

4 महान विप्लव 1857, क्रिस्टोफर हिबर्ट, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पेज 199

5 पलासी से विभाजन तक, शेखर बंदोपाध्याय, ओरिएंट लॉन्गमैन, पेज 185

6 नया पथ, मई 2007, संपादक- मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, पेज 23

7 रसेल, पेज 30

8 भट्ट, पेज 92

9 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, संपादक देवेंद्र चौबे, बद्रीनारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन संस्थान, पेज 330

10 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 326

11 नया पथ, पेज 23

12, उदभावना 1857 पर विशेषांक, संपादक प्रदीप सक्सेना, प्रकाशन, पेज 271-271

13 वही

14 तदभव – 16, संपादक- अखिलेश, इंदिरानगर लखनऊ, पेज 162)

15 मीडिया, 1857 एक पुनर्यात्रा, दूसरा अंक अप्रैल-जून 2007, प्रधान संपादक शंभूनाथ, अतिथि संपादक- रवींद्र त्रिपाठी, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, पेज 193

16 पलासी से विभाजन तक, पेज 188

17 भट्ट, पेज 63

18 तदभव-अंक 15, पेज 52

19 बिपिन चंद्र, आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण 1998, पेज 170

20 मीडिया, पेज 193

21 मीडिया, पेज 195

22 आलोचना, अप्रैल-जून 2001, प्रधान संपादक- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेज 242

23 वह, पेज 61

24 मीडिया, पेज 192

25 नया पथ-1857 पर विशेषांक, पेज 41
26 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 338
27 भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पेज 6
28 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 338
29 वही
30 वही, पेज 380
31 मीडिया, पेज 191
32 वही
33 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 335
34 नया पथ, पेज 28
35 द प्रोज ऑफ काउंटर इनसरजेंसी, सब आल्टर्न स्टडीज-2, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, संपादक- रणजीत गुहा, पेज 1 (यह निबंध गूगल की मदद से इंटरनेट से डाउनलोड किया गया है)
36 वही, पेज 2
37 वही, पेज 8
38 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 327
39 पलासी से विभाजन तक, पेज 186
40 उदभावना, पेज 23
41 द प्रोज ऑफ काउंटर इनसरजेंसी, पेज 18
42 भट्ट, पेज 11
43 भट्ट, पेज 13
44 सीताराम, पेज 19
45 वही (पेज 20)
46 रसेल, भूमिका पेज 5
47 रसेल, भूमिका पेज 6
48 रसेल, पेज 30
49 रसेल, पेज 284
50 मीडिया, पेज 54
51 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 15

दूसरा अध्याय

# 1857 का विद्रोहः स्वप्न, यथार्थ और ऐतिहासिकता

# 1857 का विद्रोहः स्वप्न, यथार्थ और ऐतिहासिकता

1857 पर बहस के दौरान प्रायः बगावत के बुनियादी चरित्र कि यह सिपाही विद्रोह था या राष्ट्रीय स्वतंत्रत संघर्ष, हिंदू-मुस्लिम एकता या फिर विद्रोह में धर्म की भूमिका जैसे सवालों पर बार-बार बात हुई है, लेकिन उस समय के समाज के रंग-ढंग, विश्वास और सामाजिक संरचना के साथ मिलाकर राष्ट्रीयता और ब्रिटिश शासन का पाठ नहीं किया गया है। अगर ऐसा हुआ भी है तो उसमें अंग्रेजी में और प्रायः प्रभु वर्ग द्वारा लिखे गए स्रोतों का सहारा लिया गया है। *माझा प्रवास* ( विष्णुभट्ट की आत्मकथा) पढ़ते समय न सिर्फ तत्कालीन समाज बल्कि नाना साहब और लक्ष्मी बाई के बारे में भी अत्यंत निजता भरे विवरण मिलते हैं। इसी तरह रसेल बार-बार अपनी *माई इंडियन म्यूटिन डायरी* में अंग्रेजों की कभी अतिरंजित तो कभी नृशंस दृष्टि पर टिप्पणी करते हुए चलते हैं। एक तरह से लश्कर के साथ उनका सफर ब्रिटिश हुकूमत के बुनियादी सरोकारों की मीमांसा रहा, जिसमें रसेल ने अपने आग्रहों के कभी वशीभूत, तो कभी मुक्त होकर निष्कर्ष दिए। यह दुर्भाग्य ही है कि गदर पर इतना महत्वपूर्ण ब्यौरा होते हुए भी अभी तक रसेल की डायरी का हिंदी में अनुवाद नहीं हुआ है। हालांकि इसका संदर्भ डेलरिंपल से लेकर कई इतिहासकार देते हैं। सीताराम की कहानी अपने आप में न्यारी है। सबसे महत्पूर्ण भी क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी के और किसी देसी सिपाही का ब्यौरा अभी तक उपलब्ध नहीं। यह कंपनी के बारे में अवध के आम किसान-ब्राह्मण परिवार से आने वाले सिपाही की समझ और बगावत के पहले की हलचलों को खालिस भदेस अंदाज में बताती है। साथ ही तत्कालीन समाज की रूढियों और कुलीन ब्राह्मण वर्ग के साथ चिपकी जातिगत श्रेष्ठता को समझने के लिए भी तमाम उदाहरण मुहैया कराती है।

अगले तीन उपअध्यायों में 1857 के संदर्भ में स्वप्न, यथार्थ और ऐतिहासिकता शीर्षक के तहत विचार किया गया है। *स्वप्न* खंड में गदर को लेकर उठते राष्ट्रीयता बनाम प्रांतीयता के सवाल और बागियों के जेहन में भविष्य की क्या तस्वीर थी, इस पहलू से रूबरू होने की कोशिश की गई है। इसके बाद कुछ पीछे लौटते हुए गदर के समय के सच से दूसरे खंड *यथार्थ* में मुठभेड़ की गई है। इस खंड में ब्रिटिश राज की प्रकृति, उनके कानूनी शासन के फरेब के बारे में पड़ताल की गई है। तीसरे खंड *ऐतिहासिकता* में विवेच्य किताबों के साथ जुड़े ऐतिहासिकता के सवाल और युद्ध के एक कारगर औजार अफवाहों और उनके पीछे क्रियाशील विचारों के बाबत बात की गई है।

# स्वप्न

**गदर के सबक**

विष्णुभट्ट एक यात्री की तरह हिंदुस्तान आए और उन्होंने धन भले ही न कमाया हो, लेकिन अनुभव की पूंजी बेतरह इकट्ठा की। गदर के दौरान किसी तरह अपनी जान बचाने में कामयाब रहे विष्णुभट्ट लौटते में मां-बाप के लिए गंगा जल का कांवर ले जाने में सफल रहे और इसी को वह अपनी यात्रा का फल मानते रहे। माझा प्रवास में कहीं भी उन्होंने गदर को लेकर किसी भी किस्म का मूल्य निर्णय नहीं दिया। हालांकि कानपुर में नाना साहब और अवाम की स्थिति या झांसी में लक्ष्मी बाई के शासन और अंग्रेजों के कब्जे के बाद फैली अराजकता के वर्णन से हिंदुस्तान की आम जनता के प्रति उनकी सहानुभूति साफ तौर पर पढ़ी जा सकती है।

उधर सीताराम बगावत को *एक पगली हवा* मानते थे। उनके मुताबिक 'सिपाही सरकार के डर के परचम तले काम करते थे और यह डर खत्म होते ही बगावत शुरू हो गई।'[1] अपने वर्णन में उन्होंने सरकार को कई नसीहतें भी दे डाली हैं। ये नसीहतें तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य के चरित्र की कमियों की तरफ भी इशारा करती हैं। मसलन सीताराम लिखते हैं कि

- 'आम लोग जिला कमिश्नर से आराम से मिल सकें और गरीबों की बात सुनी जाए, तो घूसखोरी अपने आप कम हो जाएगी।'
- 'सरकार की सजा को कई लोग बेकार मानते हैं। नीची जाति का आदमी दूसरे के घर में चोरी करे और मारपीट करे तो उसे साल भर के लिए जेल भेज दिया जाता है। देसी सरकार होती तो उसका हाथ काट दिया गया होता। मैं समझता हूं कि सजा ऐसी ही होनी चाहिए। सरकार को समझना चाहिए कि खेतिहर लोग बैल की तरह होते हैं, जो डांडा मारने पर ठीक से काम करना है।'
- 'अंग्रेजों का कानून अंग्रेजों के लिए ठीक है, लेकिन हम लोगों के लिए हिंदू नियम अच्छा है। हिंदू लोग अंग्रेजी कानून नहीं समझ पाते क्योंकि वह अरबी भाषा में लिखा रहता है।'[2]

कुछ इसी टोन में रसेल लिखते हैं कि 'अगर हम एक लोकप्रिय प्रशासन के जरिए लोगों की जरूरतों का ख्याल रख सकें, तो इतने बड़े पैमाने पर सेना और पुलिस का अमला रखने की जरूरत ही न पड़े।'[3] अफसरों और हिंदुस्तानियों के बीच अविश्वास पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं कि 'हमारे बीच दुर्भावना का जो संबंध बन गया है, उसे ज्यादा दिन तक जारी नहीं रखा जाना चाहिए। गदर के कारण इन संबंधो में बहुत बिगाड़ आ गया है। अगर संबंध यूं ही रहे तो भारतीय प्रशासन में और भी बुराइयां आ जाएंगी और

याद रखना चाहिए कि इन्हीं बुराइयों के चलते ब्रिटिश साम्राज्य को बगावत झेलनी पड़ी।'[4]

गदर की भावना के प्रसार में समाज में मौजूद बुद्धिजीवियों की भूमिका का आकलन करते हुए भी रसेल ब्रिटिश राज को एक नसीहत देते हैं। वह लिखते हैं कि 'जो सरकार मुस्लिम बुद्धिजीवियों की ऊर्जा का बेहतर इस्तेमाल करना सीख जाएगी, वह भारत को बड़ा लाभ पहुंचाएगी। बुद्धिजीवियों के प्रमुख आश्रय स्थल मसलन दिल्ली और लखनऊ अब नष्ट हो चुके हैं। ऐसा डर है कि बुद्धिजीवियों का असंतोष पड़ोस की स्वतंत्र रियासतों में पनाह लेगा। इसलिए बेहतर होगा कि इन लोगों को अपनी ही सीमाओं में रखा जाए, न कि मुस्लिम राज्यों में जाकर हमारे खिलाफ और भी घृणा फैलाने के लिए पलायन करने दिया जाए।'[5]

सीताराम और रसेल की नसीहतों में फर्क साफ देखा जा सकता है। रसेल अपनी तमाम सलाहों के साथ यही चाहते थे कि भारत में अंग्रेजों का न्यायप्रिय शासन कायम रहे और भारतीयों को सभ्यता का नया पाठ पढ़ाए। सीताराम भी अपनी किताब में अंग्रेजी राज के विदा होने की कोई कामना नहीं करते और तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनसे ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। मगर अपनी सलाह देते हुए वह जिस तरह से राज के चरित्र की विद्रूपता को उघाड़ते हैं, उससे साफ समझा जा सकता है कि ब्रिटिश राज कितने लोगों का और कैसे भला कर रहा था। इतिहास का सबक हमें बताता है कि गदर के बाद ब्रिटिशों ने अपनी शासकीय नीतियों में बदलाव तो किया, मगर रसेल जैसे तमाम निजदेश वासी बुद्धिजीवियों-पत्रकारों की राय पर भी ध्यान नहीं दिया।

## भविष्य की तस्वीर

रसेल की यात्रा के अंतिम पड़ाव तक बागियों पर कमोबेश काबू पा लिया गया था। हालांकि पूरी तौर से आधिपत्य सत्ता के केंद्रों पर ही हो पाया था और अवध और तराई के इलाकों में अभी भी बागियों का प्रभाव कायम था। डायरी के अंत में कुछ ठहरकर रसेल राज के भविष्य के बावत कुछ नसीहतनुमा आकलन करते हैं। वह लिखते हैं कि 'मैं भारत छोड़ रहा हूं, शायद फिर कभी न आने के लिए। लेकिन इस समय मेरे मन में यह अदम्य इच्छा है कि यहां लोगों की हमारी संगति में खूब उन्नति हो। फिलहाल जारी नीतियां मुझे बहुत उत्साहकारी नहीं लगतीं। वह सभी चीजें अपने क्षय की तरफ बढ़ रही हैं, जिनमें भारत के लोगों की गहरी रुचि है। फिर ये चाहे कस्बे और गांव हों या सार्वजनिक निर्माण। ऐतिहासिक इमारतें हों या मंदिर और मस्जिद। या फिर गांव के कुंए तालाब और बावड़ी ही क्यों न सही। हमें इस क्षय को, इस पतन को रोकने के लिए कुछ

न कुछ जरूर करना होगा। ...लापरवाही का आलम यह है कि जब मैं आगरा में ताज महल देखने गया तो उसके एक गुंबद पर पीपल का पेड़ जम चुका था। कुछ ही रुपयों को खर्च कर इसकी सफाई की जा सकती थी, लेकिन इस मशहूर इमारत को नष्ट होने के लिए छोड़ दिया गया और किसी भी अफसर ने इसकी सुध नहीं ली।'[6]

अंग्रेजों के देश में आधुनिकता लाने के दावे पर उंगलियां उठाते हुए रसेल लिखते हैं कि 'हम इस देश में गंगा पर नहर और रेलवे जैसे कामों के लिए श्रेय ले सकते हैं, पर याद रखना होगा कि लोहे के सरिये और तार वीरान, बदहाल गांवों से होकर गुजरते हैं। तरक्की के तमाम दावों के बीच मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहूंगा कि राज बदलने से स्थानीय निवासियों को किसी भी तरह का बदलाव देखने को नहीं मिला।'[7] जाहिर है कि यह युद्ध पत्रकार उन स्थितियों को साफ तौर पर देख पा रहा था, जिसके चलते भारतवासी निरंतर बदहाली का शिकार हो रहे थे।

जब रसेल का कारवां बनारस की तरफ चलता है तो वह पहली बार हिंदुस्तान देखते हैं। बैलगाड़ी में लदे लोग, सूती चादर की ओट में महिलाएं और इसी दौरान उन्हें बगावत के भाव का भी निदर्शन होता है। रसेल लिखते हैं 'अंग्रेजों के कारवां की तरफ एक भी नजर दोस्ताना भाव के साथ नहीं देखती। इन आंखों की भाषा, इन्हें पहचानने और समझने में कोई कैसे भूल कर सकता है। इस एक घटना से ही मैंने समझ लिया कि हमारी नस्ल न सिर्फ इन लोगों में डर पैदा करती है, बल्कि यह बुरी तरह से नापसंद भी का जाती है। जीटी रोड से गुजरने वाले लोग बुरी तरह से गरीबी के आवरण में लिपटे हैं।'[8] रसेल को बताया जाता है कि मौसम की वजह से यहां के लोग ज्यादा कपड़े नहीं पहनते। लेकिन कुछ ही देर में उन्हें कपड़ों से लदे-फदे कुछ अमीर तबके के लोग भी दिखाई देते हैं और इस तर्क की धज्जियां उड़ जाती हैं। इस पर कहा जाता है कि यहां के लोगों खासे प्रर्दशनप्रिय हैं और इसी कारण भरपूर कपड़े पहने हैं। इस पर रसेल कहते हैं कि अगर अमीरी कपड़ों के जरिए दिखाई जाती है, तो जाहिर है कि जिनके पास कपड़े नहीं हैं, वो गरीब हैं, तो उन्हें जवाब मिलता है कि 'मिस्टर रसेल आप इन काले लोगों को नहीं समझते।'[9]

कानपुर नरसंहार के बारे में रसेल ने कई बार अपनी डायरी में चर्चा की है। इस पर आगे विस्तार से बात की गई है। फिलहाल संदर्भ होने के कारण इस घटना से जुड़े रसेल के सबक के बारे में। रसेल कानपुर की घटना का जिक्र कर लिखते हैं कि 'इस घटना से हमने क्या सबक लिए ? ताकत ही हमारे शासन का आधार है। लोगों की स्थिति सुधारने वालों का सरकार से कोई संबध नहीं दिखता। सरकारी सक्रियता केवल राजस्व वसूली तक

ही सीमित रहती है। मैंने अपने सफर के दौरान हजारों ऐसे गांव देखे जहां गरीबी मिट्टी की तरह पसरी हुई थी।'[10]

ताकत के तर्क के बारे में सिपाही सीताराम भी बात करते हैं। हालांकि सीताराम की चेतना उतनी आधुनिक नहीं थी कि वे अंग्रेजों की शक्ति और भारतीयों की बदहाली में सीधा संबंध स्थापित कर सकें। इसीलिए सीताराम साहब बहादुर को अपनी किताब में सलाह देते हैं कि भारतीय लोग शक्ति की पूजा करते हैं, इसलिए कंपनी को अधिकार बांटने नहीं चाहिए। सीताराम लिखते हैं कि 'कमांडर के पास इतनी ताकत होनी चाहिए कि वह जिंदगी और मौत का फैसला कर दे। जब तलवार छह सौ मील दूर रहेगी तो उससे कौन डरेगा। सिपाहियों को लगेगा कि उनका कमांडर असली नहीं है तो वे ऊपर किसी और ताकत की ओर देखेंगे ही। सिपाही विद्रोह का एक कारण यह भी था। मैंने पहले ही कहा था कि हिंदुस्तान के लोग बलवान की पूजा करते हैं।'[11]

प्रायः गदर के समय की स्थितियों पर विचार करते हुए छोटे पैमाने पर ही सही लेकिन कामगार वर्ग में उपजे असंतोष और उनके गदर में योगदान को विस्मृत किया जाता रहा है। हालांकि 1857 तक इस वर्ग की हिंदुस्तानी क्षेत्र में उपस्थिति न के बराबर थी, लेकिन जो भी लोग इस वर्ग से आते थे, वे काम करने की खराब परिस्थितियों और दूसरे उत्पीड़न के कारण अंग्रेजों के प्रति रोष से भरे थे। रसेल अपनी भारत यात्रा के अंतिम पड़ाव में कानपुर पहुंचते हैं, तो इस सत्य से उनका साबिका होता है। उनके विवरण के मुताबिक गदर से कुछ साल पहले ही रेलवे के लिए काम करने वाले मजदूरों में भयानक असंतोष फैला था, लेकिन सख्ती से उसका दमन कर दिया गया। जाहिर है कि ब्रिटिश राज के खिलाफ 1857 एक ऐसा विद्रोह था, जो तमाम वर्गों और इलाकों से एक समुच्चय की तरह प्रकट हुआ। इसके पहले भी देशभर में ब्रिटिश हुक्मरानों के खिलाफ असंतोष फैलता रहा। जनवादी इतिहासकार अयोध्या सिंह ने अपनी किताब *भारत का मुक्ति संग्राम* में विस्तार से इन छुटपुट विद्रोहों का हवाला दिया है। अवध या बुंदेलखंड के इलाकों में गदर के दौरान एकाएक सामंत ब्रिटिश राज के खिलाफ उठ खड़े हुए हों, ऐसा नहीं था। बल्कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही कभी कर वसूली तो कभी जबरन अधिग्रहण के मुद्दे पर विद्रोह होते रहे हैं। सिंह के मुताबिक 'बुंदेलखंड में अजयगढ़ और कालिंजर के किलेदारों ने अंग्रेज हुकूमत के खिलाफ बगावत की थी।'[12] इसी तरह बुंदेलखंड के सागर अंचल में जमीन का मूल्यांकन बढ़ा-चढ़ाकर करने और ज्यादा कर वसूली के प्रयासों के खिलाफ 1842 में बगावत हुई थी।[13] इस विद्रोहों का पाठ गदर के संदर्भ में भी किया जाना अपेक्षित है। इसके साथ ही उन्नीसवीं सदी में बुंदेलखंड में पिंडारियों की बढ़ती

संख्या के भी सामाजिक-आर्थिक कारण ब्रिटिश हुकूमत में खोजने का यत्न आवश्यक है।

## राष्ट्रीयता बनाम प्रांतीयता

1857 के विद्रोह के चरित्र पर उठने वाले सवालों में यह सवाल धुरी की तरह काम करता है कि यह कुछ स्थानीय सामंतों और सिपाहियों के नेतृत्व में हुई बगावत थी, या इसका स्वरूप कहीं व्यापक था और इसमें एक व्यापक भूभाग में फैली आम जनता की भी भागेदारी थी? इसी सवाल से एक और सवाल जुड़ा है कि 1857 के समाज में राष्ट्र की बुनियादी समझ क्या थी ? क्या बागी भारत जैसे किसी एक मुल्क के बजाय अपने-अपने इलाकों, मसलन अवध या बुंदेलखंड के लिए लड़ रहे थे ? क्या विद्रोह का अपना कोई राष्ट्रीय चरित्र और इसे यह चरित्र देने वाले गुण नहीं थे ? क्या भारत एक देश के रूप में मौजूद भी था, या यह राष्ट्रवादी इतिहासकारों के दिमाग की उपज मात्र है ? और सबसे अहम सवाल कि उस समय के राष्ट्रवाद में, अगर यह अपने प्रागैतिहासिक रूप में मौजूद भी था, तमाम राष्ट्रीयताएं ( जातियां) किस तरह से समायोजित होती थीं ? इस उपअध्याय में हम इन सवालों पर अब तक हुई इतिहासकारों की बहस के संदर्भ में रामकहानी-सीताराम, रसेल की डायरी और विष्णुभट्ट की आत्मकथा (माझा प्रवास) से कुछ सूत्र खोजने की कोशिश करेंगे।

1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह मानने वाले सबसे पहले व्यक्ति कार्ल मार्क्स थे। 1857 को लेकर आज की तारीख में जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उसमें मार्क्स की दृष्टि का हवाला देना एक अकादमिक जरूरत सा बन गया है। मार्क्स *न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून* नाम के पत्र में लिखते हैं 'मुसलमानों की तरह सिख भी ब्राह्मणों के साथ हाथ मिला रहे थे और इस तरह से ब्रिटिश शासन के खिलाफ सभी अलग-अलग तबकों का एक साझा संगठन तेजी से आगे बढ़ रहा था।'[14] इसी तरह से धीरे-धीरे अन्य तथ्य भी निकलकर सामने आएंगे जो यह यकीन दिला देंगे कि यह वास्तव में एक राष्ट्रीय विद्रोह है।

उधर भारत में सबसे पहले गदर को राष्ट्रीय विद्रोह कहने वाले विनायक दामोदर सावरकर थे। चूंकि बाद में सावरकर धुर दक्षिणपंथी खेमे से जुड़ गए, इसलिए अब 1909 में लिखी उनकी किताब *प्रथम स्वातंत्र्य समर* में भी कुछ उसी दृष्टि के सूत्र तलाशने की कोशिशें होती हैं। मगर किताब पढ़ने पर यही लगता है कि यह एक किस्म के भावनात्मक आवेग के साथ लिखी गई। सावरकर लिखते हैं कि 'अपने बंधुओं को अपनी आंखों के सामने दंडित किया जाएगा, यह सुनकर भी शांत रहने वाला बैरकपुर नहीं था। वहां स्वतंत्रता की ज्योति हर तलवार में चमकने लगी थी। परंतु इन सबसे अधिक मंगल पांडेय की तलवार

म्यान में अधीर हो रही थी।'[15] सावरकर के तथ्य में आधुनिक खोजों के संदर्भ में तमाम तथ्यात्मक गलतियां तो हो सकती हैं, लेकिन उनकी दृष्टि निश्चित रूप से राष्ट्रवादी थी और पहली बार इतने खुले तौर पर 1857 के लड़ाकों को नायकों की तरह पेश किया गया और इस लड़ाई को आजादी की पहली लड़ाई का नाम भी दिया गया। बाद में भारत सरकार द्वारा प्रायोजित इतिहास लेखन में तमाम किंतु-परंतुओं के साथ एस. एन. सेन ने लिखा कि 'आंदोलन एक फौजी गदर के रूप में हुआ, फिर जब प्रशासन का ह्रास हुआ तो उच्छृंखल तत्व हावी हो गए।'[16]

दरअसल 1857 कई आंदोलनों का समुच्चय था, जिसमें तमाम तबके अपने अपने स्वार्थों या कहें कि लक्ष्यों के लिए शरीक हुए। इस संदर्भ में टॉमस मैटकॉफ और ए. बी. चौधरी के कथन सटीक बैठते हैं। मैटकॉफ लिखते हैं कि 'इस बात पर व्यापक सहमति है कि यह फौजी गदर से अधिक मगर कौमी बगावत से कम कोई चीज थी।'[17] मैटकॉफ गदर को राष्ट्रवाद की कसौटी पर कस तो रहे हैं, लेकिन पश्चिमी प्रतिमानों के आधार पर। चौधरी का कहना है कि 'विद्रोह एक विदेशी शक्ति को चुनौती देने के लिए अनेक वर्गों की जनता का पहला संयुक्त प्रयास था।'[18]

विवेच्य किताबों में जो जाहिर तौर पर आंखों देखे सच को किस्साकोई के अंदाज में बताने की कवायद हैं, इन जटिल सवालों पर सीधे तौर पर विचार नहीं किया गया। लेकिन उनके लेखन से इन सवालों के जवाब ढूंढने के लिए कुछ समझ तो विकसित होती ही है। पहली बात तो यह है कि हिंदुस्तान उस हिंदी प्रदेश को कहते थे, जिसे हम आज के समय में हिंदी पट्टी, गोबर पट्टी जैसे विशेषणों से नवाजते हैं। रामविलास शर्मा की हिंदी जाति की अवधारणा को लेकर भले ही अकादमिक जगत में तमाम बहसें रही हों, लेकिन यहां हिंदुस्तान का प्रयोग उस जाति के संदर्भ में नहीं बल्कि एक लचीली अवधारणा के रूप में किया गया है, जहां हिंदुस्तान में रहने वाले हिंदी बोलते-समझते हैं और इसी कारण यह इलाका हिंदुस्तान कहलाता है। इसमें हिंदू शब्द का कोई योग चेतना के स्तर पर तो नहीं ही था क्योंकि मुस्लिमों के बीच भी अपने इलाकों के लिए यही शब्द प्रचलित था। बहरहाल, हिंदुस्तान को भारत के दूसरे इलाकों से अलग करती थी राजनैतिक चेतना और रहन-सहन के तरीके। भारत के तमाम इलाकों में हिंदुस्तान को लेकर कई मिथ प्रचलित थे। मसलन भट्ट जब ग्वालियर की ओर चलते हैं, तो उनके पिता समझाते हुए कहते हैं कि 'हिंदुस्तान बहुत दूर है, दंगे-धोखेवाला। इच्छा नहीं होती कि तू हिंदुस्तान जाए।'[19]

जाहिर है कि भारत के उत्तरी हिस्से को लेकर कुछ मिथ या कहें कि सचाई में लिपटे

विश्वास बहुत प्रचलित थे। हिंदुस्तान की एक और छवि सिख सिपाहियों की सोच के मार्फत मिलती है। अंग्रेज-सिख युद्ध के लिए जाने से पहले सीताराम लिखते हैं कि 'ब्रितानी अफसर सोचते रहे कि सिख लोग कभी हिंदुस्तान पर हमला नहीं करेंगे।'[20]

इस सोच के क्या कारण हो सकते हैं ? पहला तो यह कि सिख भले ही एक अलग कौम हो, लेकिन उनके तमाम धार्मिक और सांस्कृतिक विश्वास हिंदुस्तानियों से मेल खाते थे। खुद गुरुग्रंथ साहिब में हिंदी क्षेत्र में सक्रिय रहे तमाम भक्त कवियों के पद संकलित हैं। खालसा पंथ की स्थापना ही हिंदू धर्म की रक्षा के लिए हुई थी। ऐसे में यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सिखों के लिए हिंदुस्तान कोई विदेशी इलाका नहीं था। यह अपनी राष्ट्रीयता से भिन्न लेकिन सबसे नजदीक की राष्ट्रीयता जैसा मामला थे, जिसके तमाम संदर्भ बिंदु समान थे। संभवतः इसी कारण अंग्रेजों को लगता रहा हो कि सिख हिंदुस्तान पर हमला नहीं करेंगे। दूसरी बात यह कि सिख सरदारों ने कभी हिंदुस्तान के मुख्य भूभाग पर हमला किया भी नहीं। जिस युद्ध का जिक्र सीताराम कर रहे हैं, उसमें भी हमले की कार्रवाई बचाव का ही एक हिस्सा थी। लेकिन इतिहास की धारा में मोड़ तब आता है, जब बंगाल रेजीमेंट की मदद से अंग्रेज सिखों को लगातार कई युद्धों में हराते हैं। बंगाल रेजीमेंट हिंदुस्तान के सिपाहियों से बनी थी और सिखों में इस तथ्य के लिए रोष भी रहा होगा। इसके बाद सिख बड़े पैमाने पर अंग्रेजी पलटन में शामिल होने लगे। गदर को दबाने में उनका अहम योगदान रहा। रसेल भी अपनी डायरी में बताते हैं कि लखनऊ पर कब्जे के दौरान सिख सिपाही बहुत बहादुरी से लड़े।

इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं कि सिखों ने अपनी हार का बदला लेने के लिए हिंदुस्तानियों के खिलाफ जंग में हिस्सा लिया। दरअसल यह दो राष्ट्रीयताओं को मनचाही थ्योरी के जरिए आमने-सामने खड़ा करने का प्रलाप ही है। शम्सुल इस्लाम ने अपने हालिया शोध जो किताब के रूप में *1857 के बागी सिख* शीर्षक से छपा है, तमाम तथ्यों के जरिए यह सफलतापूर्वक दर्शाया है कि विद्रोह के दौरान सिख भी बागियों में शामिल थे।[21] और रही बात अंग्रेजों के समर्थन की, तो यह सिख रियासतों, मसलन पटियाला आदि ने किया था। इसमें आम जनता की कितनी सहभागिता रही होगी, इसे तात्कालिक सामंती परिवेश को ध्यान में रखकर सहज ही समझा जा सकता है।

अब सवाल इस हिंदुस्तान नाम की अवधारणा का। आखिर क्या है यह हिंदुस्तान, इसकी परिधि और संस्कृति का निर्धारण कैसे किया जाए ? भट्ट जैसे लोगों के लिए हिंदुस्तान भले ही परदेस हो, मगर गंगा और काशी तीर्थ जैसे कारकों को कसौटी मानें तो सभी प्रदेश एक दूसरे से जुडे थे। विष्णुभट्ट मां-बाप के लिए कांवर ले जाते हैं और जब

इसमें एक स्वप्न में मिले दैवीय संकेत के चलते कावेरी का जल मिलाते हैं तो गोया सांस्कृति संगम पूरा होता है।

अब अगर हिंदी प्रदेश की स्थिति पर ही विचार करें तो यह सही है कि गदर की शुरुआत में तमाम रियासतें अपने सामंती दायरे के अंदर ही क्रियाशील थीं। यह बात बार-बार दोहराई जाती है कि नाना साहब ने बागी सिपाहियों को दिल्ली जाने की तो अनुमति दी, लेकिन खुद दिल्ली नहीं गए क्योंकि वह मुगलों की प्रतीकात्मक सत्ता स्वीकार करना नहीं चाहते थे। इसी तरह भट्ट के विवरण से पता चलता है कि रानी लक्ष्मीबाई भी शुरुआत में नाना साहब से मदद लेने में हिचकीं। भट्ट लिखते हैं कि 'रानी श्रीमंत से संपर्क के मामले में कुछ हिचकिचा रही थीं। मन में था कि उन्होंने कभी श्रीमंत से विशेष संपर्क नहीं रखा। लड़ाइयों के समय भी नहीं। बाद में कुछ संशय के बाद रानी श्रीमंत से मदद लेने को तैयार हो जाती हैं। ...रानी ने कहा कि हम स्वयं कालपी नहीं जाएंगे, पेशवा पूज्य हैं। अंग्रेजों के खिलाफ जंग में उनकी मदद बहुत काम आएगी।'[22]

गदर के इस मोड़ पर रानी का यह वक्तव्य दो बातें उजागर करता है। पहली, विद्रोह के प्रारंभिक चरण में सामंत सबसे पहले अपने स्तर पर अंग्रेजों का सामना करने की कोशिश करते रहे। इससे विद्रोह की व्यापक योजना का दावा कुछ कमजोर सा जान पड़ता है। यह तो संभव है कि फौज की तमाम रेजीमेंटों में आपसी संपर्क गदर शुरू होने से पहले रहा हो, मगर हिंदुस्तान की तमाम रियासतें फौज में बगावत शुरू होने के बाद ही इस महासंग्राम में शामिल हुईं। दूसरी बात, रानी का और विद्रोह में क्रमशः सक्रिय हुए दूसरे सामंतों के साथ व्यापक स्तर पर नेटवर्क नहीं था। रानी और नाना के संदर्भ में यह बात प्रचलित जनकथाओं के संदर्भ में और भी विचित्र लगती है। बुंदेलखंड के लोकगीतों समेत रानी पर लिखे गए तमाम ऐतिहासिक आख्यानों में यह बात लिखी गई है, कि रानी बचपन में नाना के संग पली-बढ़ी-खेली। फिर ऐसा क्या था कि रानी विकट समय में नाना से संपर्क में हिंचक रही थीं ?

बहरहाल, एक बार जब सामंत अपने स्तर पर सक्रिय हो गए, तब विद्रोह का दूसरा चरण शुरू होता है। इस दौरान सभी सामंत क्रमशः एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं। लक्ष्मीबाई-नाना साहब-कुंवर सिंह-बेगम हजरत महल और मौलवी का मेल महज रणनीतिक फायदे के लिए नहीं होता है। ठीक इसी बिंदु पर विद्रोह स्थानीयता-प्रांतीयता आदि की चौहद्दी को लांघकर राष्ट्रीय स्वरूप धारण करने लगता है। हालांकि यहां पर राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग आज के राष्ट्र-राज्य के समानार्थक शब्द के तौर पर नहीं, बल्कि अपनी रियासत और प्रांत से बाहर हिंदुस्तान नाम की एक भावनात्मक अवधारणा के लिए किया गया है, जिसकी

मिट्टी और संस्कार मिलते-जुलते हैं और जहां हिंदु-मुस्लिम सैकड़ों सालों से साथ रह रहे हैं। इस बात की ताकीद खुद भट्ट के हवाले से मिले लक्ष्मीबाई के विचार भी करते हैं। जब भट्ट झांसी से जान बचाकर कालपी तक पहुंचते हैं तो वहां उनकी एक बार फिर रानी से मुलाकात होती है। लक्ष्मीबाई अपने वृहत्तर उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि 'मुझे क्या चाहिए, आधा सेर आटा। एक अकेली विधवा को और क्या दरकार। धर्म की रक्षा के लिए कर्म कर रही हूं। दुर्भाग्य से यश नहीं मिला।'[23]

यहां धर्म से तात्पर्य हिंदू धर्म से न होकर लोक धर्म से है, जहां हिंदू और मुस्लिम अपने-अपने विश्वासों के तहत रह रहे थे। लेकिन अंग्रेजों के आते ही दीन बिगड़ने लगा। गौर करने की बात यह है कि कालपी में भट्ट से रानी यह नहीं कहतीं कि वह झांसी के लिए लड़ रही हैं। जाहिर है कि उद्देश्य संघर्ष के क्रम में क्रमशः वृहत्तर होते चले गए थे। रसेल अपनी डायरी में विद्रोह के चरित्र पर स्पष्ट रूप से तो कई निर्णय नहीं देते हैं, लेकिन प्रकारान्तर से टिप्पणी जरूर करते हैं। वह लिखते हैं कि 'या तो यह सैनिक बगावत थी या जनता का विद्रोह। अगर हम इसे सैन्य बगावत मान लें तो आम जनता को परेशान करना, उन्हें सरेआम फांसी पर लटाकाया जाना गलत साबित होता है। बागियों के खिलाफ प्रतिरोध न करने के आरोप उन पर लगाया जाना गलत है। भला सशस्त्र लोगों की मुखालफत वह कैसे करते। हम सिर्फ बागियों के प्रति सहानुभूति के आधार पर लोगों को दंडित नहीं कर सकते। यदि ऐसा किया गया तो लोगों में राष्ट्रीय स्तर पर और गहरे अर्थों में हमारे शासन के खिलाफ असंतोष पनपेगा।'[24] बाद के घटनाक्रम से हम जानते हैं कि लोंगों को सिर्फ सहानुभूति रखने मात्र पर ही ब्रिटिश हुकूमत क़े कोप का भाजन बनना पड़ा। इससे जाहिर होता है कि उनकी नजर में यह मात्र एक सैनिक बगावत ही नहीं थी, भले ही इसकी शुरुआत उसी रूप में हुई हो।

1857 ने पहली बार राष्ट्रीयता की प्रक्रिया को खुला और तेज किया। राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार में रेलवे और संचार की अहम भूमिका होती है और भारत के मामले में भी यह काफी हद तक सही है। लेकिन बगावत के दौरान संचार के आधुनिक साधन न होने पर भी साझा शत्रु और साझा उद्देश्य जैसे कारकों ने बिहार की भावनाओं को अवध से, अवध की भावनाओं को दिल्ली से, दिल्ली की भावनाओं को राजपूताना और हरियाणा से जोड़ा। इसी तरह मालवा और भरतपुर के इलाके भी आपसी संपर्क में तेजी से आए। कुल मिलाकर समाज में राज-समाज के मुद्दे पर बेचैनी प्रकट होती दिखी और यह सतह पर भी उभरी। इस अर्थ में गदर के दौरान तेजी से राष्ट्रीयता का प्रसार हुआ। हालांकि आधुनिक अर्थ में राष्ट्र-राज्य की संकल्पना को कसौटी मानें तो उस समय मौजूद राष्ट्रीयता

प्रारंभिक अवस्था की ही जान पड़ती है।

प्रतीकात्मकता का तर्क भी विद्रोह के चरित्र के निर्धारण से जुड़ा एक महत्वपूर्ण पहलू है। ब्रिटिश शासन ने जब गदर प्रभावित क्षेत्रों पर कब्जा करने का अभियान शुरू किया तो प्रतीकात्मकता खासा महत्वपूर्ण कारक था। इसी कारण सबसे पहले दिल्ली पर कब्जा जमाया गया। इसके बाद अवध की बारी आई। लॉर्ड कैनिंग का मानना था कि 'रुहेलखंड पर कब्जा करने से पहले अवध को बागियों से मुक्त कराना राजनैतिक दृष्टि से ज्यादा महत्वपूर्ण है।'[25] उत्तर के इन दो सबसे महत्वपूर्ण ठिकानों, दिल्ली और लखनऊ पर कब्जे की लड़ाई वस्तुतः विरोध को राजनैतिक और राष्ट्रीय वैधानिकता दिलाने और न दिलाने के बीच की कवायद का महत्वपूर्ण हिस्सा थी।

ब्रिटिश अधिकारियों को एक मोर्चे पर ज्यादा नहीं, लेकिन हां जूझना जरूर पड़ा और वह था अपनी दमन की कार्रवाइयों को बाहरी दुनिया में कम से कम प्रचारित होने देना। न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून के लिए अपने लेखन में कॉर्ल मार्क्स और एंगेल्स भी गदर के दौरान अंग्रेजी प्रेस की निष्पक्षता पर सवाल उठाते हुए फ्रेंच रिपोर्टरों का हवाला देते हैं। वहीं रसेल इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि 'दूसरे देश हमारी गतिविधियों पर करीबी नजर रखने का जतन कर रहे हैं। लेकिन उनके और हमारे बीच कई समुद्रों और देशों की दूरी है और कलकत्ता स्थित प्रेस को यहां के सही हालात के बारे में बहुत कम जानकारी है।'[26]

इस कवायद का कारण भी यही था कि अगर दूसरे देशों को भारत में मच रही उथलपुथल की सही जानकारी मिल जाती है, तो वे इस विद्रोह के चरित्र को लेकर भी अपने तईं निष्कर्ष निकाल सकते हैं। खुद एंगेल्स और मार्क्स ने भी इसी आधार पर इस विद्रोह के राष्ट्रीय चरित्र को रेखांकित किया। दरअसल ब्रिटिश प्रशासन की सक्रियता के तमाम मोर्चे ही विद्रोह के राष्ट्रीय और दूरगामी प्रभाव वाले चरित्र को रेखांकित करते हैं। हालांकि हम अपने मुख्य आधार स्रोत वाली किताबों की बात करें तो लेखकों की अपनी सीमाएं भी नजर आती हैं, जिसकी तरफ पहले ही इशारा किया जा चुका है। मसलन, रसेल की दिक्कत यह है कि 'उनके आस-पास के अफसर भारत की समस्याओं और गदर के कारणों में राजनैतिक के बजाय सैन्य दृष्टिकोण को ही अहमियत देते हैं।'[27] इन अफसरों की ही तरह सीताराम पांडे जैसे भारतीय भी थे, जिनके लिए जीवन का मतलब नमकहलाल बने रहना, यानी अपने अन्नादाता साहब बहादुर के प्रति निष्ठावान बने रहना था।

विद्रोह का चरित्र खासा जटिल था। उस पर किसी सीधे-सपाट अंदाज में निष्कर्ष नहीं दिए जा सकते। मगर इतना तय है कि क्रमशः आगे बढ़ने के क्रम में इसका चरित्र भी उजागर होता चला गया। मसलन, रसेल अवध के एक ताल्लुकेदार बेनीमाधव के अवध के नवाब को दिए गए वचन का जिक्र करते हैं, जिसमें ताल्लुकेदार ने कहा था कि वह अंग्रेजों के सामने समर्पण नहीं करेगा। यह वचन महज सामंती निष्ठा का उदाहरण भी माना जा सकता है, लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इन ताल्लुकों पर अवध का वास्तविक प्रभाव काफी पहले समाप्त हो गया था। ऐसे में यह कदम अपने विद्रोह को व्यापक अर्थ प्रदान करने की कोशिश ही कहा जाएगा। मार्क्स भी यही मानते थे कि 'भारत में हो रही क्रांति आधुनिक अर्थों में क्रांति नहीं क्योंकि वहां आधुनिक अर्थों में राज्य की स्थापना नहीं हुई है।'[28] जाहिर है कि प्रांतीयता बनाम राष्ट्रीयता के द्वंद्व को समझते समय यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि अंततः प्रांतीयता राष्ट्रीयता की तरफ बढ़ने का एक चरण ही थी। रसेल भी निष्कर्ष देते हुए अपनी डायरी में लिखते हैं कि 'अगर बगावत दबाने के नाम पर बदला जारी रहा तो राष्ट्रवादी भावना भी जारी रहेगी।'[29]

यहां पर ठहरकर यह याद करना भी जरूरी लगता है कि आखिर यह द्वंद्व शुरु कहां से हुआ या इतिहास लेखन के क्रम में यह प्रश्न कब से उठा। गदर को भारतीय चिंतन में अहमियत दिलाने में पी. सी. जोशी का अहम योगदान है। अपनी किताब *रिबेलियन* में वह इस बावत चर्चा करते हैं। जोशी के मुताबिक 'बगावत के चरित्र से जुड़ी बहस सबसे पहले खुद ब्रिटिश कुलीन तबके में सबसे पहले शुरु हुई थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के समर्थक इसे सैनिक बगावत कहकर अपने राज को बचाने की चेष्टा कर रहे थे, वहीं कंपनी विरोधी इसके आधार को कहीं व्यापक बताकर ब्रिटिश ताज के आधिपत्य की वकालत कर रहे थे।'[30] इसी क्रम में जोशी ब्रिटेन में विपक्ष के नेता बेंजामिन डिजराइली का भी हवाला देते हैं। बेंजामिन ने संसद में कहा था कि 'हाल के सालों में भारत में स्थित हमारे शासन ने राष्ट्रीयता को दबाने के सिद्धांत पर स्थानीय राजाओं को खत्म करने, भूमि के बंदोबस्त में बड़े पैमाने पर बदलाव और लोगों की धार्मिक आस्थाओं के साथ खिलवाड़ के जरिए अमल किया।'[31] इस बात की ताकीद सीताराम भी करते हैं। उनके मुताबिक 'हाल के दिनों में ईसाई मिशनरियों की संख्या काफी बढ़ गई और वे खुले आम हमारे विश्वासों पर चोट पहुंचाते हैं।'[32] रसेल भी डायरी की शुरुआत में ही लड़ाई में शामिल बागियों को राष्ट्रीयता की भावना के साथ ओतप्रोत बताते हैं। खुद जोशी का यह तर्क है कि 'अगर ब्रिटिश शासन की खिदमत कर रहे सिपाहियों का सफलतापूर्वक सामाजिक बहिष्कार हुआ, तो यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण तर्क है जिसके सहारे विद्रोह के लोकप्रिय और राष्ट्रीय चरित्र को स्थापित किया जा सकता है।'[33]

वास्तव में 1857 का विद्रोह भारत में राष्ट्रीयता की भावना के आधुनिक अर्थ में प्रचार-प्रसार का प्रथम चरण था। इस दौरान लोगों में सामूहिकता की भावना कहीं ज्यादा व्यापक फलक पर नजर आई। इसके चरित्र को लेकर यह कहकर सवाल उठाए जा सकते हैं कि विद्रोह का नेतृत्व पुरानी रीति स्थापित करने की मंशा के साथ सामने आए सामंतों के हाथ में था, लेकिन याद रखना होगा कि उस समय पश्चिमी अर्थों में इस तरह के विद्रोह को नेतृत्व प्रदान करने वाले मध्य वर्ग का भारत में अभाव था। साथ ही ब्रिटिश अधिकारी थॉमस मेटकॉफ के ही तर्क को दोहराएं तो 'आम जनता नेतृत्व के प्रश्न पर पारंपरिक संबंधों और सामंती निष्ठा के कारण स्थानीय रजवाड़ों के साथ जुड़ी थी।'[34]

बगावत के बाद स्थापित हो रहे प्रशासन का चरित्र देखें तो समझ में आता है कि यह बदलाव पूरी तरह से प्रतिगामी नहीं था। मसलन, दिल्ली पर बागियों के कब्जे के बाद एक प्रशासनिक और सैन्य परिषद स्थापित की गई थी, जो सामूहिकता के आधार पर निर्णय लेती थी। इसी तरह से बहादुर शाह की तरफ से जारी ऐलाननामे में यह बात साफ की जाती है कि 'हर जमींदार का अपनी जमींदारी पर नियंत्रण बना रहेगा।'[35] जाहिर है कि सत्ता का विकेंद्रीकरण खुद पुराने राजा-बादशाह भी स्वीकार कर रहे थे। यह एक किस्म के संघीष चरित्र के विकसित होने का सूचक है। बिपन चंद्र के संपादन में प्रकाशित भारत का स्वातंत्रता संघर्ष किताब के गदर से जुड़े अध्याय की अंतिम पंक्तियां इस पूरे घटनाक्रम पर सटीक टिप्पणी जान पड़ती हैं। इसके मुताबिक 'यदि किसी ऐतिहासिक घटना का महत्व उसकी तात्कालिक उपलब्धियों तक सीमित नहीं होता तो 1857 का विद्रोह भी महज एक ऐतिहासिक ट्रेजडी नहीं थी। अपनी विफलता में भी इसने एक महान उद्देश्य की पूर्ति की। यह उस राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का प्रेरणास्रोत बन गया, जिसने वह हासिल कर दिखाया, जो विद्रोह हासिल नहीं कर सका।'[36]

# यथार्थ

कानून का शासन

1857 पर अंग्रेजी पक्ष में कुछ बातों को इतनी बार दोहराया गया है कि वे कॉमनसेंस का हिस्सा लगने लगती हैं। मसलन, न्याय व्यवस्था का तर्क। अंग्रेजों का दावा था कि उनके शासन संभालने से पहले भारत में मध्यकालीन न्याय व्यवस्था लागू थी और उन्होंने इसकी कसौटी समानता आधारित न्याय को बनाया। लेकिन रसेल की डायरी पढ़ें या सीताराम पांडे की आत्मकथा, सबसे बार-बार यही सच सामने आता है कि पूरी व्यवस्था में घूसखोरी घुन की तरह लगी थी और न्याय प्रक्रिया बेहद लंबी और न्याय की मनचाही व्याख्या पर आधारित थी। इस तर्क का सबसे बेहतर उदाहरण बहादुर शाह जफर को राजद्रोह के मुकदमे में सजा देना है। रसेल लिखते हैं कि 'एक इंगलिश कोर्ट में इंगलिश वकील यह साबित कर सकता है कि सरकार के लिए दिल्ली के शहंशाह के खिलाफ राजद्रोह के आरोप साबित करना बेहद मुश्किल होगा।'[37] इस तर्क के बावजूद अंततः रसेल भी बहादुर शाह को दिल्ली में अंग्रेजों के कत्लेआम के लिए जिम्मेदार मानते हैं। हालांकि यह शख्स सिपाहियों की अराजकता या कहें कि प्रतिशोध के लिए कितना जिम्मेदार हो सकता था, इसकी समझ बहादुर शाह की हालत के रसेल द्वारा किए गए वर्णन को पढ़कर ही समझ में आ जाती है।

सीताराम को फौज में अपनी सेवाओं के दौरान कई बार घूस न दे पाने के कारण आला अफसरों की नाराजगी का सामना करना पड़ा था। उनके मुताबिक 'भर्ती के दौरान ही हवलदार को बख्शीश न देने के कारण गोरा सार्जेंट बात-बात पर काम में नुक्स निकालकर सजा देने लगा।'[38] जाहिर है कि व्यवस्था का हवाला देने वाला कंपनी बहादुर का शासन भी कई मायनों में उसी सड़न से ग्रस्त था, जिससे पूर्ववर्ती शासन। सीताराम के आत्मकथात्मक वृतांत में ऐसे कई किस्से हैं, जब लोगों को सरकारी अमले को नजराना देने पर ही अपने काम को पूरा करने में मदद हासिल होती है वर्ना साहब तक पहुंचना भी मुश्किल होता है। बिना नजराना दिए सीताराम जैसे रिटायर्ड सूबेदार को भी छह तमगों समेत उठाकर बाहर फेंक दिया जाता है।

घूसखोरी के अलावा लुटेरों, ठगों और चोरों का आतंक पूरे हिंदुस्तान में मचा हुआ था। तराई के अभियान के दौरान रसेल का डकैतों से सामना होता है। रसेल के मुताबिक 'पूरे भारत में लुटेरों का आतंक मचा हुआ था और गदर के कारण स्थितियां और भी जटिल हो गई थीं। हमारे कमांडर नैपियर ने चार-पांच हजार की फौज के साथ लुटेरों पर नकेल

कसने की कोशिश की थी, जिसमें वह नाकाम रहे। ग्रामीण इलाकों में इन लुटेरों का बहुत आतंक था। स्थानीय भूगोल से अच्छे से परिचित होने के कारण लुटेरे प्रायः भागने में कामयाब हो जाते थे और अंग्रेजी फौज हाथ मलती रह जाती थी।'[39] विष्णुभट्ट का भी अपने सफर में कई जगह इस तरह के चोर-लुटेरों से सामना हुआ। कालपी से जान बचाकर कानपुर की तरफ भागते समय चोरों ने उनका सब माल-असबाब छीन लिया और जाते समय दया दिखाते हुए पांच रुपये सौंप दिए। इसी तरह जालौन के पास घुड़सवार लुटेरों के एक दल ने उनके सब रुपये छीन लिए और जाते-जाते रहम दिखाकर दस रुपये सौंप दिए। बुंदेलखंड का यह वही इलाका था, जहां पिंडारियों की बहुतायत थी। पिंडारियों की स्थिति के बारे में सीताराम ने विस्तार से बताया है क्योंकि वह खुद भी इनके खिलाफ अभियान का हिस्सा रहे थे। मगर पिंडारियों से पहले ठगों के बारे में कुछ बातें क्योंकि सीताराम भी पहले ठगों के चंगुल में आए थे।

सीताराम फौज में भर्ती होने के लिए जाते समय ठगों से मुठभेड़ के एक किस्से को बयान करते हैं। उनके साथ मामा और कंपनी के दो और सिपाही भी थे। रास्ते में गाने बजाने वाली एक मंडली मिली और हिफाजत के लिए साथ चलने की फरियाद की। नौ लोगों की इस मंडली के सहारे सीताराम की टोली ने भी मजे से सफर कटने की बात सोचकर उन्हें साथ ले लिया। मगर सफर के चौथे दिन ही उन्होंने रात में घात लगाकर हमला करने के लिए खुसर-फुसर शुरू कर दी। शक होने पर सीताराम की टोली उन्हें छोड़ आगे बढ़ गई। चार दिन बाद उन्हें बांस से हुक्के की नली बनाने वाली एक मंडली मिली। इस मंडली के लोग बेहद गरीब थे और उन्होंने भी सफर में हिफाजत के लिए साथ चलने का आग्रह किया। एक रात बाद उन्होंने हमला किया और सीताराम की टोली में शामिल एक शख्स का रस्सी से गला घोंट दिया और जब तक बाकी लोग जागते वे चंपत हो गए।[40] ठगों के कई गिरोह उन्नीसवीं सदी में सक्रिय थे और कई सालों के अभियान के बाद इनसे मुक्ति पाई जा सकी। ठग रस्सी जैसे मामूली चीज से हमला करते थे और उससे पहले की युक्तियों के लिए जबर्दस्त अभिनय का सहारा लेते थे।

ठगों के उलट पिंडारी घोड़ों पर सवार होकर आते थे। बड़े झुंड में चलते थे और मारकाट और लूटपाट का सहारा लेते थे। गोरखा युद्ध के बाद सीताराम को बुंदेलखंड में पिंडारियों के आतंक से निपटने वाली रेजीमेंट में नत्थी कर दिया गया। बकौल सीताराम 'पिंडारी दक्कन में सक्रिय घुड़सवार डकैत थे, जो बचने की राह निकल सके तो कभी लड़ाई नहीं करते थे। वे गांव लूटते, सुंदर लड़कियां लूटते और लोगों को अपंग बना देते।'[41] आगे चलकर मराठा इलाके में पड़ाव के दौरान ऐसी ही एक लड़की सीताराम को मिली, जो बाद

में उनकी पत्नी भी बनी। सीताराम पिंडारियों के आतंक की चर्चा करते हुए बताते हैं कि 'उनके मुखिया चित्तू का नाम लेते ही आतंक का प्रसार होने लगता था। इन डकैतों के झुंड में अच्छे खानदान के लोग भी शामिल थे। ज्यादातर गिरोह स्थानीय सामंत को भी लूट का हिस्सा देते थे।'[42] सीताराम की मानें तो बुंदेलखंड के स्थानीय निवासी पिंडारियों के साथी थे और कंपनी बहादुर की फौज से नफरत करते थे। यह लुटेरों की रॉबिनहुड मार्का छवि पर प्रकाश डालता है।

पिंडारियों की खुफिया व्यवस्था बेहद चौकस थी। दरअसल यह बात सभी लुटेरे गिरोहों पर लागू होती थी। अवध के ग्रामीण इलाकों में अभियान के दौरान रसेल ने भी यही बात पाई। पिंडारियों के गिरोह के फलने-फूलने की दो वजहें सामने आती हैं। एक तो बुंदेलखंड में तमाम राजे-रजवाड़े अंग्रेजी सरकार के अधीन आ गए थे, जिसके चलते स्थानीय लड़वैये बेरोजगारी का शिकार हो गए थे। ये सभी घुड़सवार फौज में शामिल होने के बजाय लूट के रास्ते पर हो गए। बुंदेलखंड के जिला जालौन में आज भी एक गांव पिंडारी के नाम से है। वहां के लोग सगर्व बताते हैं कि हम आजाद सिपाही थे और गरीबों की मदद करते थे। पुराने काल की स्मृतियां किस तरह समाज विज्ञान का रूपक रचती हैं, इसका यह एक दिलचस्प उदाहरण है।

विष्णुभट्ट जब झांसी में थे, तब वहां रानी लक्ष्मीबाई की सत्ता स्थापित हो चुकी थी। राजकाज के दौरान ही रानी को नजदीकी इलाके में चोरों के आतंक की खबर मिली और उन्होंने इलाके को शांत करने के लिए बाकायदा अभियान किया। ये सभी उदाहरण बताते हैं कि ब्रिटिश राज में कानून व्यवस्था के मोर्चे पर स्थितियां बेहद खराब थीं। खास तौर पर जहां स्थानीय रजवाड़ों को अपदस्थ कर शासन स्थापित किया गया था, वहां अराजकता की स्थिति थी।

इतिहास के लिए आधिकारिक और विश्वसनीय स्रोतों की जरूरत पर जोर देने वालों का यह तर्क हो सकता है कि कानून की स्थिति और न्याय व्यवस्था की यह आलोचना निष्पक्ष नहीं है। लेकिन खुद अंग्रेज पत्रकार रसेल भी इसकी कमजोरी का नमूना भारत पहुंचते ही देखते हैं। रसेल कलकत्ता के एक ब्रिटिश व्यापारी बंकम का जिक्र करते हैं, 'जिसने कई बार कानून तोड़ा था और हर बार वह न्याय की परिधि से और भी सीना चौड़ाकर बाहर निकलता था। कलकत्ता में अंग्रेज व्यापारी कानून की ज्यादा परवाह नहीं करते। उनके लिए इन सबसे बच निकलना बेहद आसान है।'[43] जाहिर है कि न्याय की तथाकथित निष्पक्ष तराजू नस्ल के पैमाने पर एक ओर झुकी हुई थी।

## गदर की तैयारी

गदर के बावत अंग्रेज पक्ष ने बार-बार यह जताने की कोशिश की कि सिपाहियों का विद्रोह पूर्वनियोजित नहीं था और अगर था भी तो इसमें व्यापकता का अभाव था। इसके उलट देसी साक्ष्य बताते हैं कि इसकी लंबे अर्से से तैयारी चल रही थी। मसलन, सीताराम जब अफगान युद्ध के बाद लंबी दासता से मुक्त होकर दिल्ली पहुंचते हैं तो वहां के सिपाहियों में अंग्रेजों की क्रीमिया के युद्ध और अफगान युद्ध में हार को लेकर सुगुबाहट साफ नजर आती है। गदर के बावत खबरें सुनकर खुद सीताराम अपने अफसर को खबरदार करने जाता है। उधर विष्णुभट्ट जब ग्वालियर के लिए आगे बढ़ रहे होते हैं, तो उन्हें महू छावनी के पास सिपाहियों का एक दस्ता मिलता है, जो उनसे कहता है कि 'आगामी 10 जून को राजक्रांति होने वाली है।'[44]

यहां पर दो चीजें गौरतलब हैं। सिपाही विद्रोह के बावत *राजक्रांति* शब्द का प्रयोग करते हैं। जाहिर है कि बगावत की उनकी संकल्पना फौरी तौर पर अंग्रेज अफसरों को मारने से कहीं ज्यादा की थी। इस संकल्पना के कुछ प्रस्थान बिंदु हमें दिल्ली में बनी सैन्य परिषद द्वारा की जा रही घोषणाओं में भी साफ दिखाई देते हैं। गौर करने वाली दूसरी बात है 10 जून की तारीख। चूंकि माझा प्रवास विष्णुभट्ट ने हिंदुस्तान से लौटने के 24 साल बाद 1883 में लिखी, इसलिए संभव है कि 10 मई को 10 जून समझ लिया गया हो। हालांकि अलग-अलग क्षेत्रों में गदर के लिए तय तारीख पर भिन्न साक्ष्य सामने आए हैं, इसलिए यह बात उतनी अहम नहीं रह जाती। लेकिन गदर के कई दिन पहले से ही सिपाही अपने घरों की तरफ कूच करने लगे थे। रास्ते में मिलने वाले यात्रियों को इस बारे में खबरदार किया जा रहा था। लेकिन अंग्रेज अधिकारी इस ओर ध्यान नहीं दे रहे थे। इतने दिन पहले तारीख तय होने का एक अभिप्राय यह भी लगाया जा सकता है कि तमाम फौजी छावनियां एक दूसरे के संपर्क में थीं।

गदर करने वाली सिपाहियों की संख्या की तरफ ध्यान दें, तो समझ में आता है कि बगावत करने वाली रेजीमेंट के सभी सिपाही विद्रोह जारी रहने पर इसमें शामिल नहीं रहे। ऐसा लगता है कि कई सिपाहियों के लिए गदर का मतलब अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर अपनी मौजूदा हालत से पीछ छुड़ाना था। अभी इस तरह के आंकड़ों पर ज्यादा काम नहीं हुआ, जिनमें बगावत करने वाली रेजीमेंट के सिपाहियों और बगावत को जारी रखने वाले सिपाहियों की संख्या का तुलनात्मक अध्ययन किया गया हो। संभव है कि इस तरह के आंकड़े ही उपलब्ध न हों। भट्ट को जो सिपाही राजक्रांति के बारे में बताते हैं, वे भी अपने घरों की ओर ही लौट रहे थे। सिपाहियों की इस मनःस्थिति के बारे में

बात करते हुए सीताराम लिखते हैं कि 'कुछ सिपाही बगावत के बाद अपने गांव चले गए। उनका गदर से बस इतना मतलब था कि वे जिस रेजीमेंट में थे, उससे बगावत कर दी।'[45]

### गदर के कारण

गदर के कारणों पर बात करने पर सबसे ज्यादा ध्यान उन सिपाहियों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, जिन्होंने इस क्रांति में रीढ़ की हड्डी का काम किया। अंग्रेजों ने अपने दस्तावेजों में ऐसे किसी भी सिपाही की मानसिकता का उल्लेख नहीं किया है, जो गदर के दौरान उनके खिलाफ लड़ा हो। लेकिन रसेल ने अपनी डायरी में कई जगह पकड़े जाने के बाद बागियों से हुई दरियाफ्त का हवाला दिया है। रसेल के मुताबिक 'इन सिपाहियों में ब्रिटिश राज के प्रति हद दर्जे की हिकारत भरी थी। इनके लड़ने के तरीके से जाहिर होता था कि इन सिपाहियों के पास गंवाने को कुछ भी न था और वे अपने दीन और जमीन की रक्षा के लिए लड़ रहे थे।'[46]

एक स्थापित शक्ति के विरुद्ध नियोजित क्रांति के स्वरूप पर विचार करने के क्रम में यह कारण बहुत भावुक और छिछले लग सकते हैं, लेकिन हमें याद रखना होगा कि गदर में शामिल बहुसंख्यक वर्ग के लिए यह आहत भावनाओं के ज्वार से पैदा हुए रोष और उत्साह का ही मामला था। इसकी वैचारिकी का प्रस्थान बिंदु इन्हीं मामूली सी लगने वाली चीजों में तलाशना होगा।

सीताराम ने गदर को भले ही पगली हवा कहा हो, लेकिन अपने वर्णन में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की चूलें हिलाने वाले कारणों पर सच की साखी भी दी। मसलन गदर की मीमांसा करते हुए सीताराम बागी सिपाहियों को तो कोसते हैं, साथ ही ये भी लिखते हैं कि 'सरकार ने कई रेजीमेंट के साथ बहुत बुरा सलूक किया। सरकार ने अवध पर बिना मतलब कब्जा कर लिया।'[47] गौरतलब है कि यह वही सीताराम हैं, जो कभी लखनऊ के बारे में इतना कम जानते थे कि उन्हें अवध के नवाब से बड़ा पद फौज के जमादार का लगता था। लेकिन वही सीताराम कह रहे हैं कि अवध पर कब्जा बिना मतलब था। जाहिर है कि सीताराम सारी शालीनता के साथ सरकार को बता रहे हैं कि अवध के कब्जे के कारण सिपाहियों को लगा कि इस सरकार पर भरोसा नहीं किया जा सकता।

धर्म एक ऐसा कारक है, जिस पर कई आयामों से बात की जाती है। चर्बी वाले कारतूस की बात भी अपने आप में एक दिलचस्प विरोधाभास लिए हुए है। मसलन, जो सिपाही

चर्बी मिले कारतूस इस्तेमाल करने के नाम पर भड़के थे, बाद में उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई के दौरान उन्हीं कारतूसों का जमकर इस्तेमाल किया।

इसके अलावा धर्म प्रचार का मसला एक ऐसा पहलू है, जिस पर ब्रिटिश विवरण प्रायः चुप्पी साधे रहते हैं। सिपाही ही नहीं शहरी जनता भी ईसाई पादरियों के क्रियाकलापों से परेशान थी। सीताराम लिखते हैं कि 'मैंने देखा था कि इधर अवध में पादरी लोग बहुत बढ़ गए हैं। पादरी साहब लोग आकर गली मोहल्ले में खड़े हो जाते हैं। लोगों से कहते हैं कि उनका धर्म फर्जी है।'[48] इस टिप्पणी के बाद सीताराम बड़े मार्के की बात करते हैं कि 'भले ही ये पादरी दावा करें कि वे सरकार के मुलाजिम नहीं हैं, मगर क्या सरकार की मर्जी के बिना इस तरह से घूम सकते हैं।'[49] जाहिर है कि इसी पृष्ठभूमि में सिपाहियों और आम जनता को लगा कि दीन-धरम से तो पहले ही गए थे, अवध के अधिग्रहण के बाद अब जमीन से भी हाथ धो बैठेंगे।

विष्णुभट्ट को हिंदुस्तान आने के क्रम में गदर की पृष्ठभूमि का पता चलता है। राह में मिलने वाले सिपाहियों से जब विष्णुभट्ट ने पूछा कि 'भला राजक्रांति क्यों होगी तो अधेड़ सिपाही ने उत्तर दिया कि अंग्रेज सरकार की पिछले कुछ समय से बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। विलायत से नई बंदूकें आई हैं, जिनके कारतूस दांत से तोड़ने पड़ते हैं।'[50] इसी क्रम में सिपाही ने मंगल पांडे के साथ हुआ किस्सा बताया। हालांकि या तो उस सिपाही को या फिर विष्णुभट्ट को यही पता चला कि अमुक किस्सा किसी ब्राह्मण सिपाही के साथ हुआ, लेकिन तमाम दूसरे साक्ष्यों के आधार पर यह बात सर्वज्ञात है कि यह सिपाही मंगल पांडे थे। किस्सा मातादीन चमार द्वारा पांडे से पानी के लिए लोटा मांगने और इस पर पांडे का अपने धर्म का हवाला देकर उसे इनकार करने का है। इस पर मातादीन जो दमदम की कारतूस फैक्टरी में काम कर चुका था, पांडे को उलाहना देते हुए कहता है कि गाय और सुअर की चर्बी से बने कारतूस अपने दातों से तोड़ते हुए तुम्हारा धर्म नहीं जाता और मुझसे धर्म की बात करते हो। गौरतलब है कि हाल के 1857 से जुड़े दलित विमर्श में इस घटना के आधार पर मंगल पांडे से भी बड़ा नायक मातादीन चमार को बताया जा रहा है। जाहिर है कि पांडे हो या मातादीन दोनों उस विद्वेष की पहली चिनगारी के वाहक ही थे।

रसेल के मुताबिक बगावत के कारण ब्रिटिश टेक्स्ट बुक में चर्बी लगे कारतूस और कुछ दूसरे कारकों के इर्दगिर्द बात करते हैं, लेकिन इस चिंगारी के भड़कने के काफी पहले से ही विरोध पनप रहा था। धर्म के प्रति अंग्रेजों का रुख गदर के पहले कैसा था, इसको

जानने का एक जरिया गदर को कुचलने के दौरान धार्मिक प्रतीकों के प्रति उनके रुख से भी समझा जा सकता है। अंग्रेज एक तरफ तो स्थानीय निवासियों खास तौर पर सिपाहियों के उनके धर्म को खराब करने के दावे को पूरी तरह खारिज कर रहे थे, दूसरी तरफ प्रतिहिंसा के भाव से लैस उनके अधिकारी स्थानीय निवासियों की धार्मिक मान्यताओं की धज्जियां उड़ा रहे थे। रसेल बताते हैं कि 'सैन्य अभियान के दौरान एक जगह मस्जिद उड़ाने की तैयारी थी। बाद में पता चला कि शासन के एक वफादार का इस पर मालिकाना हक है तो इस अभियान को स्थगित कर दिया गया।'[51] इसी तरह रुहेलखंड अभियान के दौरान 'अंग्रेज अफसर एक मस्जिद का इस्तेमाल बतौर मेस करते थे।'[52] साफ है कि उन्हें स्थानीय निवासियों की धार्मिक भावनाओं का कतई ख्याल नहीं था। इसी तरह लखनऊ पर कब्जे के दौरान शिव मंदिरों को बारूद से उड़ा दिया गया। इन सभी कार्रवाइयों में प्रकट तौर पर सैन्य कारणों का हवाला दिया गया, लेकिन साक्ष्य बताते हैं कि अंग्रेज अधिकारियों के मन में स्थानीय लोगों के खिलाफ बदले की भावना इसे संचालित कर रही थी। मसलन, लखनऊ मोर्चे पर 'जब मंदिरों में रहने वाले पंडों-पुजारियों ने जान बख्शने की भीख मांगी तो ब्रिटिश कमांडर रॉबर्ट नैपियर ने कहा कि तुम सब यहां थे, जब हमारे औरतों और बच्चों का कत्ल किया गया। हम इन सभी मंदिरों को बदले की भावना से नहीं बल्कि सैन्य रणनीति के तहत नजदीकी पुल की हिफाजत सुनिश्चित करने के लिए तोड़ रहे हैं। अगर तुम में से कोई भी बता सके कि उसने ईसाई लोगों के प्रति दया बरती और उनकी जान बचाने के लिए जरा भी प्रयास किया, तो मैं इन मंदिरों को छोड़ दूंगा।'[53] विष्णुभट्ट भी बताते हैं कि 'बिठूर में एक महादेव मंदिर को नेस्तनाबूद कर दिया गया।'[54]

गदर की एक और वजह अंग्रेजों द्वारा दिल्ली के बादशाह को अपदस्थ कर पेंशनिया गुलाम बनाने की करतूत भी मानी जाती है। अपनी तमाम कारगुजारियों के बावजूद ब्रिटिश पूरा जोर इस बात को साबित करने में लगा देते हैं कि बहादुर शाह और उनका कुनबा नकारा था। रसेल बहादुर शाह का पक्ष कतिपय उदारता के साथ पेश करते हैं। उनके मुताबिक 'ब्रिटेन में ज्यादातर लोगों का यह मानना था कि बहादुर शाह गदर के नाम मात्र के ही मुखिया थे और ऐसा करने के उनके पास मुकम्मल कारण थे। बहादुर शाह के विशाल कुनबे को लालकिले के एक हिस्से तक सीमित कर दिया गया था। धीमे धीमे सलामी के अधिकार छीन लिए गए, उनके राजवंश को किसी भी किस्म के रोजगार से वंचित किया गया और पेंशन की रकम भी घटा दी गई। राजा अकसर रानियों के तानों के बीच घिरे अपनी मुफलिसी और बदहाली का रोना रोते थे। राजा पर नियमों की तमाम बंदिशें उस वक्त लगाई गईं, जब हमारे उनसे अच्छे संबंध थे।'[55] इसके बाद भी

अंग्रेज प्रकट तौर पर राजा को एहसानफरामोश कहते थे। खुद राजा का इस गदर के बारे में क्या कहना था, इसे प्रायः उनके शेरों के जरिए व्याख्यायित करने की कोशिश की जाती है। मगर रसेल दिल्ली प्रवास के दौरान राजा से बात करने में कामयाब रहे। दिल्ली पर बागियों के कब्जे के दौरान अंग्रेजों के कत्लेआम के बारे में बहादुर शाह ने सिर्फ इतना ही कहा कि 'मुझे किले और उसके बाहर हुए नरसंहार के बारे में कुछ जानकारी नहीं है। मुझे इस बारे में कुछ भी नहीं कहना है।'[56]

खुद अंग्रेज भी जानते थे कि बहादुर शाह बेचारगी का एक जिंदा मुहावरा बन चुके हैं। इसके बावजूद जिस तरह प्रतीकात्मकता के तर्क का सहारा लेकर बागियों ने दिल्ली चलो का अभियान चलाया और बहादुर शाह को शहंशाह घोषित किया, ठीक उसी अंदाज में अंग्रेजों ने भी मुगल बादशाह और राजकुमारों को अपनी कार्रवाई के केंद्र में रखा।

### शासक वर्ग से दूरी

1857 पर उपलब्ध साक्ष्यों, खास तौर पर इस शोध में विशेष संदर्भ के साथ विवेच्य किताबों को पढ़ने पर यह समझ में आता है कि जिस हिंदुस्तान पर शासन करने का अंग्रेज दंभ भरते थे, वहां की जनता के साथ उनका नाता सिर्फ राजस्व वसूली तक ही सीमित था। शासक वर्ग से यह दूरी और नस्लीय आधार पर भेदभाव, स्थानीय रजवाड़ों को एक-एक करके सत्ता की कतार से दूर खड़ा कर देना, ये सभी बातें ब्रिटिश राज के खिलाफ गईं। अंग्रेजों के जनता के साथ संबंधों से जुड़ा असल सवाल तो यह है कि अंग्रेजों के बारे में आम आदमी खास तौर पर ग्रामीण वर्ग कैसे-कैसे मिथ पाले हुए था। सीताराम अपने गांव वालों की तरह ही अंग्रेजों के बारे में तमाम तरह के भ्रम पाले हुए थे। मसलन साहब लोग अंडों से निकलते हैं, अंडे पेड़ों से निकलते हैं। यहां तक कि आत्मकथा लिखते समय यानी 1860 में बकौल सीताराम 'कई गांवों में यह अंडे वाली बात सही मानी जाती थी।'[57] रसेल भी फौजी लश्कर के साथ हिंदी प्रदेश में घूमते हुए पाते हैं कि कई लोगों के लिए अंग्रेज किसी अजूबे से कम नहीं थे। बकौल रसेल 'सेना की रेजीमेंट को मार्च करते देख कई लोग इसे देखने आ गए। उनमें से ज्यादातर ने इससे पहले कभी किसी गोरे को नहीं देखा था। शायद ही कभी इस जिले में किसी अंग्रेज अधिकारी ने दौरा किया हो।'[58]

दरअसल अंग्रेजों के लिए राज से मतलब राजधानियों में बैठकर राजस्व कमाने से था और इसीलिए उन्होंने अंदरूनी इलाकों में तब तक जाने की जहमत नहीं उठाई, जब तक वहां से राजस्व वसूली में अवरोध की खबरें न आई हों। लेकिन फौजी अमले में स्थिति कुछ उलट थी। सीताराम की मानें तो अफसर सिपाहियों के लिए माई-बाप की तरह थे।

ज्यादातर अफसर हिंदुस्तानी औरतें रखते थे और रेजीमेंट में इसका बड़ा असर होता था। गदर के बाद सिपाहियों और अफसरों के बीच दूरी और संवादहीनता दोनों ही बढ़ गई। हिंदुस्तान की नई रेजीमेंट के अफसर और सिपाही पुरानी रेजीमेंट के मुकाबले हिंदुस्तानियों को ज्यादा गरियाने लगे। सीताराम खुद अपना अनुभव बड़े रोष के साथ बताते हैं। उनके मुताबिक 'लखनऊ पर कब्जा करने वाली फौज में मैं भी शामिल था, लेकिन मेरे अफसर मुझ *डैम ब्लैक पिग* कहते थे, जबिक सालों पहले काबुल में पड़ाव के दौरान अफसर मुझे *डैम गुल फैलो* कहते थे।'[59]

सीताराम के अनुभव बताते हैं कि बगावत के बाद सिपाहियों के लिए फौज में काम करने की परिस्थितियां बहुत अपमानजनक हो गई थीं। सीताराम के मुताबिक 'उस जमाने में अफसर लोग हमारी भाषा आज के मुकाबले अच्छे से बोलते थे और हमसे घुलमिलकर रहते थे। आजकल अफसर इम्तिहान पास करने के बावजूद हमारी भाषा नहीं समझते।'[60] यहां पर सीताराम का विवरण पढ़कर सवाल उठता है कि अगर सिपाही पहले के अफसरों के व्यवहार से खुश थे, तो फिर कंपनी राज के खिलाफ उन्होंने बगावत क्यों की। इसके जवाब में दो बातें सामने आती हैं। पहला सीताराम अपने संस्मरण एक अंग्रेज अफसर के कहने पर लिख रहे थे। वह जिसका नमक खाया, उसका बजाया, के सिद्धांत पर यकीन करते थे और दूसरी बात यह कि ये सिपाही वर्दीधारी किसान थे और घरों पर अपने हित प्रभावित होने पर उनका रोष से भरना स्वाभाविक ही था।

### ब्रिटिश राज की प्रकृति

ब्रिटिश राज की प्रकृति समझने का सबसे बेहतर जरिया है, उनके क्रियाकलापों का आलोचनात्मक अवलोकन। नस्लीय श्रेष्ठता जिसने *वाइट मैन बर्डन* जैसे मुहावरे को जन्म दिया, इस राज का आधार वाक्य था। खुद रसेल भी जब हिंदुस्तान से विदा लेते हैं, तो अपनी इच्छा प्रकट करते हैं कि हम यूरोपीय लोगों की संगत में भारत तरक्की करे। युद्ध पत्रकार की यह बात भले ही उदारमना लगे, लेकिन खुद रसेल ने नस्लीय श्रेष्ठता के दंभ का उल्लेख अपनी डायरी में किया है। उनके मुताबिक 'एक दिन बागियों के खिलाफ अभियान के दौरान एक अंग्रेज अफसर ने कहा कि अगर काले लोगों के अंदर भी आत्मा होती है, तो मुझे पूरा यकीन है कि वह हम लोगों जैसी कतई नहीं होती।'[61]

नृशंसता ब्रिटिश राज की एक खास पहचान थी। गदर के दमन के दौरान बार-बार कानपुर नरसंहार का हवाला दिया गया, जिसके बारे में यहां हम कुछ ठहरकर बात करेंगे। कानपुर में जनरल व्हीलर ने नाना साहब की फौज के सामने तमाम प्रतिरोध के बाद समर्पण कर

दिया था। लेकिन इलाहाबाद जाने के लिए बोट तक पहुंचने से पहले ही महिलाओं और बच्चों पर अंधाधुंध गोलियां बरसाई गईं। पकड़ी गई महिलाओं और बच्चों को एक घर में बंद कर दिया गया। रसेल की डायरी के शोध में प्रयुक्त संस्करण के संपादक *एडवर्ड्स* अपने परिचयात्मक निबंध में नील के लेखन का हवाला देते हैं। इसके मुताबिक 'कानपुर की घटना के बारे में नील बताते हैं कि कई महिलाएँ और बच्चे खंदक में ही मर गए थे, काफी लोग नावों पर सवार होने के दौरान मारे गए और जो बचे उनमें से भी ज्यादातर बुखार, हैजा और दस्त के चलते दम तोड़ गए। जनरल हैवलाक के कानपुर अभियान की पहली सफलता के बारे में सुनते ही सभी को मार कर घर के कुएं में फेंक दिया गया।'[62] नील के इसी विवरण से हम जानते हैं कि शुरुआती दौर में बुरे ट्रीटमेंट के बाद महिलाओ और बच्चों को पहनने के लिए साफ कपड़े और खातिर के लिए सेवक मिले। जाहिर है कि उनके कत्ल का फैसला सोचा समझा नहीं बल्कि आवेश में लिया गया था। प्रायः इसकी जिम्मेदारी नाना साहब के सिर पर डाली जाती है, मगर नाना साहब का पक्ष जानने के लिए बहुत कम साक्ष्य मौजूद हैं। इस एक हादसे को अंग्रेजों ने अगले दो सालों तक हर किस्म की नृशंसता के खिलाफ बतौर प्रतितर्क या ढाल इस्तेमाल किया, लेकिन इस हमले में नाना की संलिप्तता खुद अंग्रेज सिद्ध नहीं कर पाए। एडवर्ड्स सर जॉर्ज कैंपबेल की किताब *मैमॉयर्स ऑफ माई इंडियन करियर* का हवाला देते हैं। कैंपबेल लिखते हैं कि 'बाद में सावधानीपूर्वक जांच करने पर साफ हुआ कि इस मसले में कोई निर्देश नहीं दिए गए थे। जब तक हैवलक कानपुर रहे, नील काबू में रहा, लेकिन उनके जाते ही नील ने नरसंहार की सभी हदों को पार कर दिया। उसकी कारवाइयों में जिहादी सनक साफ थी। सूबेदारों और मुसलमानों से फर्श साफ करवाया गया।'[63]

कानपुर की घटना पर इतनी बात इसलिए क्योंकि यह एक घटना ब्रिटिश राज की प्रकृति को बेहतर तरीके से उघाड़ती है और प्रतिहिंसा-प्रोपगैंडा के आपसी संबंधों के बारे में बताती है। रसेल लिखते हैं कि 'कानपुर घटना के बारे में सबसे अजीब या कहें कि हजम न होने वाली या कहें कि बर्दाश्त न होने वाली बात यह थी कि यह कार्रवाई एक गुलाम नस्ल के द्वारा अपने स्वामियों के खिलाफ की गई थी।'[64] लेकिन नील द्वारा वर्णित नृशंसताओं की जब रसेल खुद पड़ताल करते हैं, तो उन्हें ऐसे एक भी प्रमाण नहीं मिलते जो ब्रिटिश कहानियों को सच साबित करें। मसलन, 'बीवीघर की दीवारों पर हैवलॉक के कानपुर में घुसने के दौरान कुछ भी लिखा हुआ नहीं देखा गया था।'[65]

गौरतलब है कि बीवीघर हादसे की भयावहता को दर्शाने के लिए बतौर सबूत इसकी दीवारों पर अंग्रेज महिलाओं और बच्चों द्वारा लिखी गई इबारत को पेश किया जाता रहा

है। लेकिन रसेल अपनी किताब में बताते हैं कि यह काम कानपुर पर दोबारा कब्जे के बाद किया गया था। बाद में इस घर के फर्श को बागियों से जबरन चाटकर साफ करवाया गया था और इस अत्याचार के पक्ष में वही इबारत वाला तर्क दिया गया था। विष्णुभट्ट भी विस्तार से इस घटना का दूसरा पक्ष बताते हैं। उनके मुताबिक 'एक अंग्रेज महिला मैला ढोने वाली महिला के जरिए इलाहाबाद में अंग्रेजों को खुफिया जानकारी पत्र के जरिए भेजने का यत्न कर रही थी। इससे नाराज होकर सिपाहियों ने नाना साहब की सहमति लिए बिना सब महिलाओं और बच्चों को मार डाला। इसके फौरान बाद नाना साहब ने कहा कि यह काम गलत हुआ है।'[66]

रसेल बार-बार बीवीघर हादसे या कानपुर कत्लेआम के सूत्रधार के तौर पर नाना साहेब को याद करते हैं और अंग्रेजी के तुर्शी भरे अंदाज में उन्हें तमाम गालीनुमा विशेषणों से भी नवाजते हैं। जबकि खुद रसेल की किताब के शुरुआत में दिए गए ब्यौरे की मानें तो इस हादसे में बागियों ने हिस्सा नहीं लिया था, बल्कि खुद अंग्रेजों द्वारा तैनात किए गए खिदमतगारों ने नाना साहब को खुश करने के लिए यह नृशंसता अंजाम दी थी।

इसके अलावा तमाम दूसरी जगहों पर नृशंस तरीके से हत्याएं की गईं। मुगल राजकुमारों को दिल्ली गेट पर लटकाने के दृश्य आज भी इतिहास के पन्नों में अपनी चीखों के साथ मौजूद हैं। चूंकि रसेल का ज्यादातर वक्त बागियों के खिलाफ अभियान चलाने वाली रेजीमेंटों के साथ बीता था, इसलिए इस बारे में उनका वर्णन ज्यादा प्रामाणिक हो जाता है। लखनऊ पर कब्जे के दौरान रसेल ऐसी ही एक नृशंस घटना का वर्णन करते हैं। 'वहां की एक इमारत से कुछ बागियों को जिंदा पकड़ लिया गया और गोली से उड़ा दिया गया। मगर एक बागी को लकड़ी के जलते ढेर पर जिंदा ही डाल दिया गया। रेजीमेंट में शामिल सिख सिपाहियों ने इस काम को अंजाम दिया और ब्रिटिश अफसर इसे देखते रहे। जब वह बागी जलती चिता से भागने की कोशिश करने लगा तो आग की लपटों से घिरे उस शख्स को एक बार फिर चिता में झोंक दिया गया। अंग्रेजों ने इस घटना से यह कहकर पल्ला झाड़ लिया कि अगर हम उस बागी को बचाने की कोशिश करते तो सिपाही हम पर ही भड़क जाते।'[67]

ब्रिटिश नैतिकता की हालत यह थी कि शहर पर कब्जे के बाद शुरुआती कुछ दिनों तक जनरैली झंडा टांग दिया जाता था, जिसका मतलब होता था भयानक कत्लेआम और लूटमार। हालत ये तक हो गई थी कि 'लूटमार में सिर्फ सिपाही ही नहीं ब्रिटिश अफसर तक शामिल थे।'[68] रसेल भी इस लूट में से अपना हिस्सा लेने की कोशिश करते दिखते हैं। हालांकि यह लेखक की ईमानदारी ही कही जाएगी कि वह पूरी वस्तुनिष्ठता के साथ

इस घटना के स्वीकार का साहस दिखाता है। लेकिन यह ब्रिटिश राज के चरित्र पर ही एक टिप्पणी तो है ही।

विष्णुभट्ट भी झांसी पर अंग्रेज सेना के कब्जे के दौरान सिपाहियों की लूटमार का विस्तृत ब्यौरा देते हैं। भट्ट के मुताबिक 'अंग्रेजों ने लोगों के घर में घुसकर मार-काट शुरू की। रुपया, सोना, मोती लूट लिया। जो पुरुष दिखा, निशाने पर था। कुछ के गले में गमछा बांधकर उगलवा लिया कि धन कहां था। जिसने चुपचाप धन-दौलत दे दी, बच गया, मगर कुछ देर के लिए ही। दूसरे गोरे सिपाही आते और उन्हें मार डालते।'[69]

ब्रिटिश हुक्मरान इस बात से वाकिफ थे कि अवध के ताल्लुकेदारों से निपटना आसान नहीं होगा। इससे निपटने के लिए प्रत्यक्ष तौर पर लॉर्ड कैनिंग ने समझौतावादी रुख अपनाया। ताल्लुकेदारों से कहा गया कि अगर वे अपनी छावनी को शस्त्र रहित कर समर्पण कर दें तो उनके साथ उदारता का व्यवहार किया जाएगा। मगर बेनीमाधव जैसे कई स्थानीय राजा अंग्रेजों की इस चाल को समझ गए और अंत तक अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करते रहे। अंग्रेजों के इस झूठ की पोल भट्ट भी खोलते हैं। भट्ट जब बांदा में थे, तो 'वहां पहुंचे ब्रिटिश कमांडर ने स्थानीय राजा से उनकी छावनी में आकर मिलने को कहा। जब राजा आया तो पहले तो उसे घंटों धूप में खड़ा रखकर अपमानित किया गया और बाद में गिरफ्त में ले लिया गया।'[70]

दमन पर काबू पाने के साथ ही ब्रिटिश हुकूमत ने इस प्रलाप को हवा दी कि सामान्य भारतीय इस बगावत में विद्रोही सिपाहियों के साथ नहीं हैं। मगर रसेल की डायरी में दर्ज विवरण बताते हैं कि अवध में अभियान के दौरान आम जनता ब्रिटिश रेजीमेंट को सहयोग नहीं कर रही थी। इतना ही नहीं अवध के ताल्लुकेदारों ने भी हर संभव तरीके से अंग्रेजों को छकाया। रसेल के मुताबिक 'न तो हमारी धमकियों और न ही प्रलोभनों ने अवध के तमाम स्थानीय मुखियाओं को नवाब का समर्थन करने से रोका।'[71]

अंग्रेजों को अपनी स्थिति का सबसे बेहतर ज्ञान तभी हो जाना चाहिए था, जब गदर को शांत करने का एक चरण पूरा हो जाने के बाद इलाहाबाद में दरबार आयोजित किया गया। रसेल लिखते हैं कि 'समारोह आवेगरहित था। मुझे बताया गया कि लोगों को दरबार में आने से रोका गया। मगर सच तो यह था कि वहां स्थानीय नुमाइंदों के नाम पर तमाम सार्वजनिक विभागों के जुड़े अधिकारी ही मौजूद थे।'[72]

रसेल भले ही ब्रिटिश शासन को तमाम नसीहतें देते हों, मगर स्थितियों का वस्तुनिष्ठ

आकलन करने पर उन्हें भी सच कुहासे के पार साफ नजर आ रहा था। वह लिखते हैं कि 'देखा जाए तो नए शासन के बाद भारत के लोग किसी बड़े बदलाव को नहीं देख पाएंगे। वही पुरानी न्याय व्यवस्था होगी, वही पुराने ब्रिटिश अधिकारी होंगे। अर्थ और न्याय के मामले में वही पुरानी व्यवस्था उनको दबाती रहेगी। पुलिस पुराने वक्त की तरह ही उनका दमन करेगी और कोर्ट में भी उनके साथ पहले की ही तरह भेदभाव किया जाता रहेगा। जिलों की पूरी की पूरी जनता को सिर्फ इस बिना पर दंडित करना कि वहां पर जुर्म किए गए, कि वहां पर दुश्मनों की सेना ने पड़ाव डाला, न सिर्फ अन्यायपूर्ण बल्कि मूर्खतापूर्ण भी होगा।'[73] गदर के दौरान हुई नृशंसताओं से वाकिफ रसेल आखिरी में लिखते हैं कि 'अब शायद कभी भी विश्वास बहाल नहीं हो पाएगा और इस हालत में भारत पर हमारा नियंत्रण लोगों की यंत्रणा की कीमत पर कायम रह पाएगा।'[74]

## ऐतिहासिकता

### ऐतिहासिकता का सवाल और संस्मरण

इतिहास क्या है, अकादमिक सा दिखने वाला यह सवाल अपनी जटिलताओं में ईश्वर के अस्तित्व या नियति बड़ी या कर्म जैसे सवालों जैसा है, जहां वाद-प्रतिवाद का कोई अंत नहीं। इतिहास की प्रचलित और कमोबेश सर्वमान्य व्याख्याएं पिछले कुछ दशकों में खारिज की जा चुकी हैं और तमाम वर्ग और धाराएं नए सिरे से इतिहास के मायने और उसे गढ़े जाने वाले शास्त्र को लेकर प्रयासरत हैं। ऐसे में 152 साल पहले घटी किसी घटना के बारे में पड़ताल करते समय यह याद रखना बेहद जरूरी हो जाता है कि इतिहास अंततः व्यक्तिगत दृष्टि से घटनाओं की व्याख्या करने का जरिया है। किसी भी व्याख्याकार की दृष्टि उसके अपने इतिहासबोध से निर्मित होती है और इस इतिहासबोध में सांस्कृतिक, देशीय और सामाजिक मूल्यों की भी अपनी भूमिका होती है।

1857 पर लिखे गए दस्तावेजों में वैकल्पिक इतिहास की तलाश करने वाले प्रायः लोकगीतों और गांवों में प्रचलित कथानकों में सिरे तलाशते हैं। अस्मितावादी राजनीति के इस दौर में यह तलाश खासी महत्वपूर्ण भी हो जाती है। इसके अलावा पहले से चले आ रहे सर्वमान्य स्रोतों मसलन, अंग्रेज या भारतीय इतिहासकारों द्वारा लिखे गए विवरणों की पड़ताल के लिए भी एक नया दृष्टिबिंदु मिलता है। इसी क्रम में यह देखना भी दिलचस्प

है कि युद्ध को देखने या भोगने वाले वर्ग से आने वाले लेखकों के बीच क्या समानताएं और असमानताएं हैं। उनके लेखन के पीछे कौन सी दृष्टि काम कर रही थी और सबसे बड़ा सवाल यह कि उनके संस्मरणों को इतिहास का कितना प्रामाणिक स्रोत माना जाए। प्रस्तुत शोध के तीन प्रमुख संदर्भ ग्रंथ ऐतिहासिकता के सवाल पर कुछ दिलचस्प प्रस्थान बिंदु मुहैया कराते हैं। मसलन यह सवाल कि किसके ब्यौरों को ज्यादा प्रामाणिक माना जाए। एक पढ़े-लिखे और प्रकटतः घटनाओं का वैज्ञानिक किस्म का विश्लेषण करने वाले द टाइम्स, लंदन के पत्रकार रसेल को, जिनका ज्यादातर वक्त अंग्रेजों के साथ लश्कर में बीता या किस्सागोई से आप्लावित शैली में अपने विवरण दर्ज करने वाले सिपाही सीताराम पांडे और गदर के दौरान जगह-जगह भटकने वाले ब्राह्मण विष्णुभट्ट को। तीनों के लेखन की तुलना करने पर कुछ विरोधाभास सामने आते हैं। मसलन, रसेल लिखते हैं कि अंग्रेजों ने अवध के अभियान के दौरान ही बगावत पर उतारू रहे स्थानीय सामंतों को प्रलोभन दिया था कि अगर वे इस वक्त भी अंग्रेजों के साथ हो जाते हैं, तो उनकी जागीरदारी बहाल कर दी जाएगी और उन्हें किसी भी तरह की सजा नहीं होगी। बकौल रसेल 'अगर बागी जमींदार फौरन सरेंडर कर देते हैं तो कमांडर इन चीफ लॉर्ड कैनिंग उन्हें किसी भी तरह की सजा से मुक्त करने और जमींदारी बहाल करने का वादा करता है।'[75] इसकी पीछे अंग्रेजों की यही रणनीति कायम कर रही थी कि बड़े रजवाड़ों को अगर स्थानीय सामंतों का ही समर्थन नहीं रहेगा तो उनकी शक्ति कम हो जाएगी।

इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि अंग्रेजों ने उन सामंतों के साथ उदारतापूर्वक व्यवहार किया, जो अंग्रेजी लश्कर के सामने विरोध का परचम लहराने से बचे और जिन्होंने अंग्रेजों के इलाका छोड़ने के बाद ही स्थानीय प्रशासन अपने हाथ में लिया। लेकिन इसके उलट कहानी भट्ट बयां करते हैं। भट्ट बताते हैं कि गदर की खबरें सुनकर अंग्रेजों ने दंगाग्रस्त इलाकों समेत संपूर्ण चित्रकूट इलाके के बंदोबस्त की जिम्मेदारी श्रीमंत नारायण राव और माधवराव को सौंप दी। सारे कागज-पत्रा भी उनके हवाले कर दिए। कुछ दिनों बाद अंग्रेजी लश्कर फिर पूरे ताम-झाम के साथ चित्रकूट के करीब पहुंचा और राव को बिना सिपाहियों के उसके कैंप में आने का संदेश भिजवाया। जब राजा वहां पहुंचे तो पहले तो उन्हें घंटों धूप में इंतजार करवाया गया और फिर बंदी बना लिया गया।[76]

जाहिर है कि रसेल ने सिर्फ वही देखा-सुना जो लश्करों में बोला जा रहा था। मगर भट्ट लश्कर से दूर आम जनता के बीच विचर रहे थे। दो अलग-अलग संस्मरणों से लिया गया यह एक उदाहरण साफ करता है कि अंग्रेजी राज की प्रवृत्तियों पर किस तरह से भारतीय और विदेशी लेखकों के बीच फर्क है। यहीं पर इतिहासबोध की भूमिका शुरू हो

जाती है। अंग्रेज अपनी नृशंसताओं को ढांपते हुए रसेल और ऐसे ही तमाम दूसरे तथाकथित निरपेक्ष लेखकों का ब्यौरा देते हैं। वहीं उनके शासन की प्रकृति पर सवाल उठाने वाले देशज ब्यौरों को बतौर तर्क इस्तेमाल करते हैं। भट्ट जो प्रकटतः बगावत के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं देते, सच को ज्यादा करीब से देख सुन रहे हैं। उनके ऊपर आत्मीयता या राज सत्ता के साथ मुग्धता भरे संबंधों का कोई दबाव भी नहीं है।

संस्मरणों की ऐतिहासिकता पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न आधुनिक ज्ञानमीमांसा के उस मूल तर्क के जरिए उठाया जाता है, जो इतिहास लेखन में निरपेक्षता के सिद्धांत की वकालत करता है। ऐसे में विवेच्य संस्मरणों के लेखकों की पृष्ठभूमि और उनके अपने विचार हमें यह जानने में मदद करते हैं कि उनकी दृष्टि क्या थी।

लखनऊ के मोर्चे पर चढ़ाई का वर्णन करते हुए रसेल आत्मविभोर से हो जाते हैं। उनकी शैली आधुनिक राष्ट्रवाद से प्रभावित लगती है। जब रसेल यह लिखते हैं कि 'बंदूकों, तोपों और आगे बढ़ते सिपाहियों का कारवां खत्म होता नहीं लगता'[77] तो उनका आख्यान अपने मुल्क की जीत की खुशबू से लबरेज नजर आता है। यह एक ऐसे व्यक्ति की डायरी का वर्णन है, जो तमाम किंतु-परंतुओं के बावजूद अंग्रेजी राज के भारत में बने रहने की कामना से ग्रस्त है। हालांकि रसेल इस राज की सीमाएं और कमियां भी खुद ही बयां करते हैं। रसेल के मुताबिक अंग्रेजी राज शासन और न्याय के दोहरे मानदंडों के आधार पर टिका है। वह लिखते हैं कि 'कई अपराधों के बारे में हमें पता भी नहीं चल पाता। मुझे पूरा विश्वास है कि भारत में हम ऐसी तमाम चीजों को होने दे रहे हैं, जिनकी हम यूरोप में कभी इजाजत नहीं देते।'[78]

राष्ट्रवाद की यह बयार रसेल को प्रभावित कर रही थी, इसे खुद रसेल भी स्वीकार करते हैं। डायरी के अंतिम हिस्सों में कई बार वह इस बाबत बात करते हैं। मसलन तैंतीसवें अध्याय की शुरुआत में ही वह लिखते हैं कि 'हमारी फौजें अवधवासियों के प्रति कटुता का भाव लिए हुए हैं और मैं यह स्वीकार करना चाहूंगा कि उनकी भावना का कुछ हिस्सा मेरे अंदर भी मौजूद है।'[79]

गदर पर भारतीयों के दृष्टिकोण को जानने का एक स्रोत भारतीय प्रेस को भी माना जाता है। गौर करने की बात यह है कि उस समय प्रेस का प्रसार सिर्फ बंगाल और दिल्ली में ही प्रमुखता था और ब्रिटेन में रह रहे अंग्रेजों तक गदर के समाचार बंगाल प्रेस के जरिए पहुंचते थे। मार्क्स के लेखन के हवाले से हम जानते हैं कि गदर की रिपोर्टिंग करने के

लिए कुछ फ्रेंच पत्रकार भी भारत में मौजूद थे, लेकिन ब्रिटिश प्रशासन उनके बताए सच को नकार कर भारतीय प्रेस की बातों को ज्यादा प्रमुखता देता था। भारतीय प्रेस का आलम यह था कि वे कलकत्ता पहुंच रही सरकारी सूचनाओं के जरिए ही अपनी रिपोर्ट तैयार करते थे। इसकी विश्वसनीयता पर खुद रसेल ने भी सवाल उठाया है। रसेल भारतीय प्रेस पर तंज कसते हुए लिखते हैं कि 'किसी को भारतीय प्रेस के साहित्यिक या अर्द्धसाहित्यिक ब्यौरों पर ज्यादा आश्चर्य नहीं होना चाहिए।'[80]

ऐसे में निश्चित तौर पर गदर का भारतीय पक्ष जानने के लिए हमें उन भारतीयों के ब्यौरों पर निर्भर रहना होगा, जिनका राजसत्ता से सीधे तौर पर कोई संबंध नहीं था। अगर विवेच्य किताबों की बात करें तो सीताराम पांडे अपनी पेंशन की खातिर कुछ भी लिखने से कतराते हैं और कर्नल नॉरगेट के बहुत जोर देने पर ही अपनी रामकहानी लिखते हैं। इस किताब को लिखने के दौरान सीताराम के अंदर राज के प्रति समर्पण का भाव था और किताब में भी इसकी छाप कई जगह दिखती है। मगर इन सीमाओं के साथ-साथ सीताराम की कहानी में वे तमाम सिरे भी दिखाई देते हैं, जिनके सहारे गदर के पीछे की भावना के सूत्र सहेजे जा सकते हैं। इसी तरह से विष्णुभट्ट भी माझा प्रवास लिखने के बाद अपने परिवार वालों को इस बात की ताकीद करते हैं कि मेरी मौत के बाद ही ये संस्मरण छपवाए जाएं। जाहिर है कि उन्हें यह डर था कि राजसत्ता की गदर को दबाने के दौरान की गई जिन नृशंसताओं का उन्होंने ब्यौरा दिया है, वे उनका अपना नुकसान कर सकती हैं।

बहरहाल, संस्मरणों की एतिहासिकता के सवाल पर विचार करते समय हमें वैकल्पिक इतिहास की आवश्यकता पर हालिया जोर को ध्यान में रखना होगा। मसलन इतिहास लेखन की एक धारा यह प्रस्तावित करती है कि यह जानना ज्यादा जरूरी है कि घटनाओं को लोगों ने किस रूप में अपने इतिहासों में देखा है। भले ही इन इतिहासों में इतिहास की प्रामाणिकता का अभाव हो। यह जानना ज्यादा जरूरी है कि लोगों ने भूतकाल की घटनाओं को आत्म इतिहास में अपने तरीके से लिखने की कोशिश की।[81]

रसेल के विवरणों को एक ऐतिहासिक स्रोत की तरह इस्तेमाल करने में कुछ सावधानियां भी अपेक्षित हैं। रसेल भारत में जितने भी समय के लिए रहे, उस दौरान उनका ज्यादातर वक्त अंग्रेजी लश्कर में ही बीता। कभी-कभार ही वह आम भारतीयों के सीधे संपर्क में आए। इस बाबत रसेल खुद ही लिखते हैं कि 'मैंने भारत को सिर्फ उसकी शोक की अवस्था में देखा है। अंग्रेजों के लिए भारत का सीधा मतलब उन यूरोपीय लोगों से होता

है, जो यहां रह रहे हैं। वास्तव में मैं कैंपों में ही रहा, जहां युद्ध को एक ख्याति मुहैया कराने वाले प्लैटफॉर्म की तरह देखा जाता था।'[82] इस स्वीकारोक्ति के बावजूद जहां कहीं भी रसेल ने भारतीयों की दुर्दशा को अपनी आंखों से देखा फिर चाहे वह कानपुर में कुलियों की बुरी अवस्था और गोरों द्वारा उन्हें प्रताड़ित करने का प्रसंग हो या मुगल बादशाह के साथ किया गया बुरा सलूक, उसे अपने रोजनामचे में दर्ज किया। अंत में वह लिखते हैं कि 'मैं पुरानी स्थितियों के अवशेष देखने की इच्छा पाले था। साथ ही नए शासन का भी परीक्षण करना चाहता था। लेकिन ऐसी किसी भी संभावना को नकार दिया गया। मुझे घरेलू मोर्चे से मिली एक खबर के चलते वापस लौटना पड़ा।'[83]

संस्मरणों की ऐतिहासिकता के संदर्भ में रसेल का डायरी के आखिरी हिस्से में कहा गया कथन हमारे लिए महत्वपूर्ण है। रसेल क डायरी के अड़तीसवें चैप्टर में वर्णित इस प्रसंग के मुताबिक एक अधिकारी रसेल से पूछता है कि सत्य क्या है और इस सवाल के जवाब में रसेल स्वगत कथन के अंदाज में अपनी डायरी में लिखते हैं कि *यह उन लोगों द्वारा आरोपित किया जाता है, जो जानने की हैसियत में होते हैं।* 1857 के समय के विवरणों की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय हमें इस बात को ध्यान रखना होगा कि अपने सभी तटस्थतावादी तर्कों के बावजूद उस वक्त के इतिहासलेखक न तो निरपेक्ष थे और न ही सत्ता के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त। इसीलिए तमाम ब्रिटिश इतिहासकारों के विवरणों में गदर के पीछे कुछ साधारणीकरण के स्तर तक जा पहुंचे कारणों का हवाला दिया जाता है। ज्यादा जोर इस बात पर रहता है कि अमुक-अमुक घटनाओं के बारे में तफसील से ब्यौरे दिए जाएं, ताकि पूर्वनिर्धारित निष्कर्षों को मजबूती के साथ स्थापित करने में मदद मिले।

अगर विवेच्य किताबों की बात की जाए, तो उनमें से दो के तो मूल के साथ ही विवाद जुड़ा हुआ है। ऐसे में उनकी ऐतिहासिकता पर भी सिरे से बहस की जा सकती है। फिर भी हमें उस विचार की तह में जानने के लिए जिसने एक समय समूचे उत्तर भारत की जनता को अपने आगोश में ले लिया, उन विवरणों को अहमियत देनी होगी क्योंकि अव्वल तो ये राजसत्ता की नजर में आने के लिए नहीं बल्कि आंखों देखी को अलग-अलग कारणों से लिपिबद्ध करने की इच्छा के चलते अस्तित्व में आए। दूसरा, इनके लेखक भारतीय थे और ऐन इसी वजह से जिस नजरिए से उन्होंने घटनाओं को देखा और समझा, उसकी व्याख्या करना जरूरी हो जाता है। आखिरकार इतिहास भी तो घटनाओं की तरफ उठने वाली खास दृष्टियों की व्याख्या ही है।

रामकहानी-सीताराम की ऐतिहासकिता को लेकर अंग्रेजों के समय में ही काफी विवाद

हुआ। किताब को हिंदी और अवधी में रूपांतरित करने वाले पत्रकार मधुकर उपाध्याय ने तफसील से इन विवादों के ब्यौरे दिए हैं। मधुकर के मुताबिक 'सीताराम पांडेय की किताब पढ़ने से यह साफ हो जाता है कि यह उन्हीं की रचना है। बांबे आर्मी के इतिहासकार सर पैट्रिक कैडल ने बरसों सीताराम पांडेय पर काम किया और उनका निष्कर्ष था कि यह किताब सीताराम की ही है। उस समय के गांव-गांव के रिश्तों और छोटी-छोटी घटनाओं का उल्लेख इस पुस्तक में है, वह सिर्फ कल्पना के आधार पर लिखना संभव नहीं है।'[84] कैडल इस बात की भी साखी देते हैं कि सीताराम ने अपने विवरण में घटनाओं का सही ब्यौरा प्रस्तुत किया है, उन अधिकारियों का नाम भी सही लिखा है, जो उस समय वहां तैनात थे। बस तारीखों के मामले में कुछ गड्डमगड्ड हो जाती है। कर्नल नॉरगेट ने भी पहले ही इस ओर इशारा कर रखा है। इसलिए सीताराम की कहानी का एक ऐतिहासिक स्रोत के तौर पर तो इस्तेमाल किया जा सकता है, बस तारीखों के सवाल पर उसे प्रामाणिक स्रोत नहीं माना जा सकता। मगर अंग्रेजी फौज के लश्करों में चल रही अफवाहें हों या फिर भारतीयों के मन में राज की धारणा, सीताराम के ब्यौरे खासे महत्वपूर्ण हैं।

इतिहास में राज का प्रोजेक्शन करने के लिए भले ही ब्रिटिश इतिहासकारों ने गदर की अपनी सुविधा के हिसाब से तथ्यों का चयन कर व्याख्या की हो, लेकिन राज चलाने के लिए ब्रिटिश हुकूमत वास्तविकता से मुंह नहीं मोड़ सकती थी। इस संबंध में नेटिव सिपाही की लिखी आत्मकथा कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है, इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगता है कि 1910 में कर्नल फिल्ट ने सीताराम की डायरी को ब्रिटिश अधिकारियों की ट्रेनिंग के लिए पाठ्यपुस्तक बना दिया। जाहिर है कि ऐसा इसीलिए किया गया क्योंकि भारतीयों के दिमाग में राज की प्रकृति के प्रति क्या भाव हैं, इसका इस किताब से बेहतर उदाहरण नहीं हो सकता था। इसी तरह से विष्णुभट्ट की आत्मकथा के प्रकाशन पर लगी रही रोक भी दिखाती है कि इस किताब में वर्णित सच ब्रिटिश राज के लिए असुविधाजनक था।

विष्णुभट्ट की गदर से संबंधित आपबीती यानी माझा प्रवास का मराठी से हिंदी में तर्जुमा मधुकर उपाध्याय ने किया है। इससे पहले हिंदी के प्रख्यात साहित्यकार अमृतलाल नागर भी किताब का हिंदी तर्जुमा कर चुके हैं, मगर उनके और मधुकर के संस्करण में काफी फर्क है। नागर जी ने इस किताब को *आंखों देखा गदर* के नाम से पेश किया। इसमें वह किताब के प्रकाशन में अहम भूमिका निभाने वाले चिंतामणि वैद्य

की कारगुजारियों का तो जिक्र करते हैं, जिसके तहत वैद्य ने किताब का श्रेय खुद लेने की भरपूर कोशिश की, मगर उपाध्याय की मानें तो अनुवाद के दौरान उन्होंने वैद्य द्वारा संपादित संस्करण का ही इस्तेमाल किया। 'उस संस्करण में हर अध्याय संस्कृत के एक श्लोक से शुरू होता है और नागर जी के अनुवाद में भी प्रत्येक अध्याय की शुरुआत ऐसे ही होती है। इस वजह से नागर जी की दृष्टि से कई महत्वपूर्ण हिस्से छूट गए।'[85]

रामकहानी सीताराम और विष्णुभट्ट की आत्मकथा, इन दोनों किताबों को विशुद्ध इतिहास भी नहीं माना जा सकता है। विष्णुभट्ट की आत्मकथा और रामकहानी-सीताराम दोनों में ही तारीखों के मसले पर कुछ गड़बड़ियां मिलती हैं। खुद सीताराम की डायरी का अनुवाद करने वाले कर्नल नॉरगेट ने भी इस बात की तस्दीक की है। किताब की भूमिका मे वह लिखते हैं कि 'इस वर्णन के कुछ हिस्से भ्रम पैदा करते हैं और कुछ तारीखें भी प्रकटतः गलत हैं। लेकिन जब यह तथ्य ध्यान में आता है कि यह वर्णन आधी सदी तक फैले सिपाही के जीवन पर आधारित है और जब इसे लिखा गया तब सूबेदार बूढा हो चुका था, तो ज्यादा आश्चर्य नहीं होता।'[86]

अब एक नजर तारीख की ऐसी ही गड़बड़ी पर। पहले सीताराम बताते हैं कि मैं 17 साल तक खेती में हाथ बटाता रहा और फिर लिखते हैं कि मैं फौज में शामिल होने के लिए 1812 को निकला। उनके विवरणों के मुताबिक उनके जन्म की तारीख 1797 में पड़ती है, जिसके हिसाब से फौज में शामिल होने के साल उनकी उम्र 15 साल ही थी।[87]

भट्ट की किताब में वर्णित तथ्यों में भी कुछ एक जगह झोल दिखाई देता है। मसलन, भट्ट जब लखनऊ पर अंग्रेजों के हमले की तस्वीर बयां करते हैं, तो वह नेपाली सामंत जंगबहादुर का जिक्र करते हैं। उनके मुताबिक 'पहले जंगबहादुर बेगम हजरत महल की तरफ से लड़ रहे थे, मगर अंग्रेजों ने रुपयों का लालच देकर उन्हें अपने पाले में कर लिया।'[88] इसके ठीक उलट रसेल अपनी डायरी में विस्तार से तराई से जंगबहादुर के लखनऊ की तरफ कूच करने का ब्यौरा बताते हैं। उनके मुताबिक जंगबहादुर तय समय से काफी देर से लखनऊ पहुंचे और उनके स्वागत के लिए अंग्रेजी लश्कर में वे तमाम शाही औपचारिकताएं पूरी की गईं, जिनकी कोई सामंत अपेक्षा करता है। अपनी डायरी के 15वें अध्याय में रसेल जंगबहादुर की अगवानी का विस्तृत ब्यौरा देते हैं।[89] उससे पहले वह जंगबहादुर की तराई से रवानगी के समाचार के बाबत भी बात करते हैं। रसेल के विवरण में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि जंगबहादुर पहले बेगम की तरफ से बागियों के साथ युद्ध में शामिल थे और बाद में प्रलोभन के चलते अंग्रेजों की तरफ आ गए। चूंकि भट्ट खुद ही यह स्वीकारते हैं कि कई घटनाओं का विवरण उन्होंने लोगों से सुनी

गई बातों के आधार पर दिया है, इसलिए यह मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती कि जंगबहादुर का किस्सा उन्हें गलत बताया गया। मगर सिर्फ इसी एक घटना के आधार पर भट्ट के लेखन को पूरी तरह से खारिज भी नहीं किया जा सकता। अगर लोगों ने कुछ घटनाओं का अपने तईं विस्तार किया तो उसके पीछे भी एक इतिहासदृष्टि काम करती नजर आती है।

विवेच्य किताबों को बतौर इतिहास का एक स्रोत इस्तेमाल करते समय हमें इनकी सीमाओं को भी जानना होगा। मसलन, रसेल की डायरी का संपादित संस्करण इस शोध में प्रयोग किया गया है। संपादक मिशेल एडवर्ड्स ने किताब के उन हिस्सों को संपादित कर दिया, जो गदर संबंधी सूचनाओं से मुक्त हैं। ये किताब के वे हिस्से हैं, जो रसेल के घायल होने पर उनके शिमला में किए गए प्रवास के दौरान लिखे गए। बकौल एडवर्ड्स 'किताब के मौजूदा उद्देश्य और ढांचे के संदर्भ में इन हिस्सों का ज्यादा महत्व नहीं था। इसमें शिमला और आस-पास के दृश्यों का ही चित्रांकन किया गया था।'[90]

रसेल युद्ध संवाददाता थे और उन्हें इस बात का पूरा भान था कि जब कभी भी ब्रिटिश उपनिवेश रहे देशों का इतिहास लिखा जाएगा तो उनके जैसे निरपेक्ष लेखकों के ब्यौरों का भी विश्लेषण किया जाएगा। रसेल की डायरी पढ़ते हुए लगता है कि लेखक अपनी आत्मछवि के प्रति खासे सतर्क थे। रसेल ने जहां कहीं भी मौका पाया अंग्रेजी राज की विडंबनाओं और ज्यादतियों का खुलासा किया। इस दौरान उनमें कहीं-कहीं राष्ट्रवाद के मोह ने भी जकड़ा। इस तरह से हमें एक ही व्यक्ति के अंदर कई भावों का निदर्शन होता है। रसेल ने क्रीमिया का युद्ध भी कवर किया था और उसी कवरेज से उन्हें ख्याति भी मिली थी। क्रीमिया युद्ध के दौरान कई ब्रिटिश अफसरों से उनकी दोस्ती या जान-पहचान कायम हो गई थी और ये संबंध भारत दौरे के वक्त काम आए। ब्रिटिश अफसर उनका खासा सम्मान करते थे और गोपनीय समझी जाने वाली सूचनाओं तक रसेल की पहुंच भी इसी वजह से कायम हो पाई थी। ऐसे ही एक प्रसंग का वर्णन करते हुए रसेल उन अफसरों को उदघृत करते हैं, जिन्होंने रसेल की तारीफ की। इसके फौरन बाद रसेल लिखते हैं कि 'प्रशंसा के इस छोटे से प्रसंग का जिक्र करने पर उम्मीद करता हूं कि मैं बरी कर दिया जाऊंगा।'[91]

सीताराम पांडे की अवधी में लिखी मूल प्रति का कोई पता-ठिकाना नहीं है। इस किताब के अंग्रेजी में किए गए पहले अनुवाद वाली प्रति भी उपलब्ध नहीं है। किताब को पहले अवधी में *किस्सा सीताराम* और फिर हिंदी में रामकहानी-सीताराम के नाम से रूपांतरित

करने वाले मधुकर उपाध्याय ने इन सभी ब्यौरों का भूमिका में जिक्र करते हुए 1880 तक के संस्करणों का हवाला दिया है। सीताराम की आत्मकथा का सबसे पहले अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले कर्नल नॉरगेट ने एक सावधानी बरती थी। अपने अनुवाद में मुश्किल या देशज रस लिए शब्दों का भावानुवाद करने के साथ-साथ उन्होंने मूल शब्दों को भी परिशिष्ट में जगह दी। नॉरगेट का मानना था कि इससे भविष्य में अनुवाद के काम को बेहतर तरीके से अंजाम देने की इच्छा रखने वाले लोगों को मदद मिलेगी। इसी मंशा को पूरा करते हुए उपाध्याय ने अवध के इलाकों में जा-जाकर उस वक्त प्रचलित रही अवधी भाषा के पैमाने पर किताब का अनुवाद किया है। हिंदी संस्करण में भी कई शब्दों को ज्यों का त्यों रखा गया है, ताकि देशज छौंक बरकरार रहे। इस बारे में चौथे अध्याय में विस्तार से बात की गई है।

विष्णुभट्ट ने माझा प्रवास को मराठी भाषा और मोडी लिपि में लिखा था। वह 1859 में गदर से प्रभावत हुए इलाकों से वापस लौटे थे, लेकिन किताब उन्होंने 24 साल बाद 1883 में लिखी। इतने लंबे अंतराल के बाद भी किताब में तथ्यात्मक भूलें नहीं के बराबर हैं और इस बात की तस्दीक कई इतिहासकार भी करते हैं। गदर के 50 साल पूरे होने पर किताब का पहली बार बाकायदा प्रकाशन किया गया। 1922 में किताब का मूल संस्करण लोगों के सामने आया, जब इतिहासकारों ने पांडुलिपि उपलब्ध कराने वाले चिंतामणि वैद्य से किताब की ऐतिहासिकता के बावत सवाल पूछा।

### ऐतिहासिक तथ्य और अफवाहें

जनविद्रोह को मजबूत करने में जनचेतना का खास योगदान होता है। आज के समय में चेतना एक विशुद्ध वैज्ञानिक पदबंध भले ही माना जाए, लेकिन गदर के समय में इसके निर्माण में लोकविश्वासों की अहम भूमिका रहती थी। ये विश्वास कभी संस्कारों से उपजते, तो कभी तात्कालिकता की हवा में लिपटी खबरों से। ऐसा क्या था कि मजबूत से दिखने वाले कंपनी के शासन के खिलाफ सिपाहियों के उठते ही आम आदमी भी उसमें शरीक हो गया? इस पर विचार करने से पहले यह देखना होगा कि फौजी लश्कर में अंग्रेजों के खिलाफ किस तरह की खबरें विकसित की जा रही थीं और ये जानने का सीताराम की डायरी से बेहतर कोई और जरिया नहीं हो सकता। सीताराम खुद भी एक सिपाही थे और रेजीमेंट में उड़ती हर खबर को न सिर्फ अपने जेहन में दर्ज कर रहे थे, बल्कि अपने तईं उसका विश्लेषण भी कर रहे थे।

अंग्रेजों के खिलाफ सुगबुगाहट की शुरुआत अफगान और क्रीमिया के युद्ध में कंपनी की

साख को पहुंचे धक्के से शुरू हुई। कंपनी की देसी फौज क्रीमिया के युद्ध के बाद अंग्रेज शासन के पराभव को साफ तौर पर देख पा रही थी। सीताराम की रेजीमेंट में शामिल एक सिपाही ने एक दिन कर्नल साहब से पूछा कि क्या यह सही है कि सरकार के सबसे अच्छे सिपाही रूसी गोलों से मारे गए। फिर सीताराम लिखते हैं कि 'बगावत के दिनों में सब यही समझते रहे कि सरकार के सब सिपाहियों को रूसी लोगों ने मार डाला है और अब सरकार नए लड़कों को भर्ती कर रही है।'[92]

सामाजिक परिवर्तन की चाह में स्मृतियों की अहम भूमिका होती है। मुसलमानों के दिल में यह बात गहरे से घर कर गई थी कि अंग्रेजों ने उनका राज खत्म किया है। जाहिर है कि मुसलमान मुगल शहंशाह बहादुर शाहर जफर की बदहाली को अपनी कौम और अंततः देश की बदहाली मानते थे। अंग्रेजी फौज में शामिल सिपाही इस मानसिकता को गहराई से प्रतिबंबित करते थे। सीताराम बताते हैं कि 'अफगान युद्ध के बाद दिल्ली में ठहरी रेजीमेंट में मुगल बादशाह के कारिंदे आकर फौज में असंतोष की थाह लेने के कोशिश करते थे। सिख-अंग्रेज युद्ध शुरू होने के बाद यह असंतोष कुछ दिनों के लिए शांत पड़ गया, लेकिन बगावत का जज्बा ठंडा नहीं पड़ा था। ...मुसलमान सोचते थे कि वे अफगानियों की तरह अंग्रेजों को पीट ले जाएंगे।'[93] गोरखाओं के खिलाफ अभियान के दौरान अंग्रेजी कुमुक को शुरुआती नाकामयाबियां मिलने पर भी मुस्लिम सिपाही यही कहते थे कि *अल्लाह को यह मंजूर नहीं*। फिर भी अगर उस वक्त कंपनी के खिलाफ बगावत स्थगित होती रही तो इसकी वजह सिखों की हार और कंपनी के भाग्य के उत्कर्ष पर होने जैसे सिपाहियों के अपने तईं निकाले गए निष्कर्ष थे।

अफगान युद्ध में अंग्रजों की पराजय का देसी रेजीमेंट के सिपाहियों पर गहरा असर पड़ा था। अभी तक इतिहास में इस पहलू पर ज्यादा बात नहीं हुई है कि क्या गदर के दौरान पश्चिम से किसी किस्म की मदद की बात सही थी या नहीं? कई इतिहासकारों ने दिल्ली में बहादुर शाह जफर के एक ऐलान का जिक्र किया है। 1857 के 100 साल पूरे होने पर हिंदी अखबार *नवभारत टाइम्स* में जफर का ऐलान प्रकाशित हुआ था। इसके मुताबिक खुद जफर कहते हैं कि 'यह तय ही है कि मुझे आने वाले वक्त में जल्द ही पश्चिम से मदद मिलेगी। इसलिए आम जनता की जानकारी के लिए यह इश्तेहार, जिसमें कई जानकारियां हैं, जारी किया जाता है।'[94] मगर यह ऐलान तो गदर शुरू होने और दिल्ली पर बागियों के कब्जे के बाद जारी हुआ था। इस अर्थ में इसे सैन्य रणनीति का हिस्सा बताया जा सकता है, जिसके जरिए ज्यादा से ज्यादा सिपाहियों को अपनी तरफ खींचने का जतन किया गया। लेकिन सीताराम का विवरण मानें तो खुद सिपाहियों के मन में

भी गदर से पहले ही इस तरह की बातें घर कर चुकी थीं। सीताराम बताते हैं कि दिल्ली में बादशाह के खेमे के कई लोग फौजी असंतोष का हाल जानने के लिए आते थे। चूंकि सभी साक्ष्य यही बताते हैं कि अपने अंतिम दिनों में बादशाह लाल किले और शाइरी तक ही सीमित रह गए थे, इसलिए बहुत मुमकिन है कि ये बादशाह के लोग दिल्ली के वे तमाम सामंत हों, जो अंग्रेजी राज से नाखुश रहे हों। लेकिन एक बात तो साफ है कि अंग्रेजों की हुकूमत खत्म करने की तैयारियां लंबे अर्से से चल रही थीं।

सिपाहियों को इस गदर के लिए उकसाने में अफगान युद्ध की क्या भूमिका थी, इसका हवाला सीताराम के ब्यौरे में देखा जा सकता है। वह लिखते हैं कि 'रेजीमेंट के सारे लोग अफगानिस्तान में सरकार की फजीहत की अकसर बात करते। कई लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि अंग्रेज हार सकते हैं, ऐसा नहीं है कि कोई उन्हें हरा नहीं सकता। मुझे लगता था कि इसी समय से मुसलमान यह सोचने लगे कि वे सरकार को देश से भगा देंगे।'[95]

हालांकि सीताराम ये निष्कर्ष अपनी व्यावहारिक समझ के जरिए देते हैं, मगर हमारे लिए यह जानकारी काम की साबित होती है। सीताराम के विवरणों खास तौर पर इस तरह की अफवाहों की बाबत दिए गए ब्यौरों को दूसरे स्रोत भी पुष्ट करते हैं। मसलन, दिल्ली से प्रकाशित होने वाले *सादिकुल अखबार* में खबर पेशावर के नाम से आई एक रपट पर गौर करें। 'इसमें ईरान और अफगानिस्तान के फौजियों के हिंदुस्तान में आने और अंग्रेजों पर हमला करने की बात कही गई है।'[96]

ब्रिटिश इतिहासकार *के* ने भी इसी तरह की बातें अपने इतिहास में दर्ज की हैं। वह लिखते हैं कि 'उत्तरी भारत के सभी हिस्सों बाजारों की बातचीत यह थी कि जीत का सैलाब फिरंगियों के खिलाफ हो गया और वह अब जल्द ही वे समुद्र में ढकेले जाएंगे।'[97]

अजीब तथ्य यह लगता है कि अंग्रेज अफसर इस तरह की बातों को लेकर संजीदगी नहीं दिखा रहे थे। कुछ ऐसा ही हाल गदर के वक्त भी हुआ। जब सीताराम जो उस वक्त छुट्टी पर अपने गांव तिलोई आए थे, स्थानीय कमिश्नर के पास अपने सुझाव लेकर पहुंचे, तो उनका सामना एक अति आश्वस्त ब्रिटिश हुक्मरान से हुआ।

इससे पहले दिल्ली में 4-5 रेजीमेंटों के सिपाहियों में सरकार के विरोध को लेकर सुगबुगाहट थी। 'लश्कर में अफगान और फारसी लोग यह कहते घूम रहे थे कि अगर हिंदुस्तान में बगावत हुई तो विलायती लोगों को भगाने में उनका मुल्क भी शामिल हो

जाएगा क्योंकि काबुल में हुई तबाही बर्बादी सबने देखी है।'[98] यह बात सिख-अंग्रेज युद्ध से पहले की हैं। यहां गौर करने वाली बात यह है कि सीताराम सिपाहियों की नहीं एक खास मजहब के सिपाहियों की बात करते हैं। कुछ इसी अंदाज में असबाब-बगावते-हिंद में सर सैयद अहमद खान लिखते हैं कि '1857 में जिहाद का नारा जिन लोगों ने लगाया था, वे सिर्फ फटेहाल और पियक्कड़ किस्म के बेरोजगार लोग थे। उन्हें धर्म का इल्म ही क्या था। वे तो सिर्फ सरकारी खजाना लूटना चाहते थे।'[99]

यहां पर सैयद प्रकट तौर पर सिर्फ हिंदुओं को दोषी नहीं ठहारे रहे हैं, मगर अपनी किताब में जिस तरीके से उन्होंने सिलसिलेवार तर्क दिए, वह इस बात की पुष्टि करते हैं कि उन्हें मुसलमानों की ज्यादा चिंता थी और इसी कारण वह गदर के आरोपों से उन्हें बरी करने का भी भरसक प्रयत्न करते हैं। इसका नोटिस लेते हुए आलोचक वीरभारत तलवार लिखते हैं कि 'एक बात जो इस किताब के बारे में सर्वमान्य है और व्यापक रूप से कही भी जाती है, बिल्कुल सच है कि इस किताब का एक बड़ा मकसद मुसलमानों और अंग्रेजों के बीच की दुश्मनी को कम करना, अंग्रेजों की नजर में मुसलमानों को बेकसूर साबित करना और अंग्रेजी राज के तौर-तरीकों में कुछ सुधार लाना था। ...सैयद ने आमतौर पर सारे हिंदुस्तानियों की बात की है, लेकिन उन्हें मुसलमानों की फिक्र ज्यादा थी।'[100]

इसके अलावा सिपाहियों को दूर देश के सफर पर जाने से भी ऐतराज होने लगा था। अब तक यही बताया जाता रहा कि धार्मिक कारण इसकी वजह थे। हिंदू धर्म में समुद्र पार करने की मनाही थी। मगर सीताराम की मानें तो दूर देश में तैनाती से इनकार के आर्थिक कारण भी थे। सरकार दूर देश में तैनाती किए जाने पर जिस भुगतान का वायदा करती थी, बाद में उससे मुकर जाती थी। सीताराम लिखते हैं कि 'सिंधु पार जाने की बात से सिपाहियों में खासी नाराजगी भर गई थी। इन दूर देस की लड़ाइयों में लड़ने के लिए सिपाहियों को जो इनाम के वायदे किए गए थे, वे पूरे नहीं हुए, इससे भी सिपाही नाराज थे।'[101]

रसेल भी अपनी डायरी में भारत यात्रा शुरू होने से पहले ही भारतीय प्रेस के बाबत यह बात दर्ज करते हैं कि इसकी रिपोर्टें उनी खबरों पर आधारित होती थीं, जो उड़ते-उड़ते कलकत्ता तक पहुंचती थीं। जाहिर है कि इन खबरों में सप्रयत्न उड़ाई गई बागियों की नृशंसताओं की खबरें और अफवाहें भी होती थीं। ऐसी ही एक अफवाह कानपुर में नाना साहब द्वारा किया गया नरसंहार भी थी। इस एक अफवाह की तार्किक पुष्टि किए बिना नाना साहब को कानपुर के कसाई का खिताब बख्श दिया गया।

अफवाहों की बाबत कुछ एक जगहों पर विष्णुभट्ट भी ब्यौरा दर्ज करते हैं। वह लिखते हैं कि 'उधर बिठूर में खबर फैल गई कि नाना साहब की नाव गंगा में डूब गई। खबर फैलाने में अंग्रेजों की भी भूमिका थी। मुंबई, कलकत्ता, मद्रास तक खबर पहुंचाई।'[102]

अब ठहरकर विचार करें कि इस तरह की अफवाह फैलाने के पीछे अंग्रेजों का क्या हित था? जाहिर है कि नाना साहब की मौत की खबर उनके लिए फायदेमंद थी। इससे बगावत पर उतारू अवाम का संकल्प तोड़ने में मदद मिलती। दोबारा इलाकों को जीतने में कम प्रतिरोध का सामना करना पड़ता। इस तर्क का विस्तार यहां तक भी किया जा सकता है कि अंग्रेज भारतीयों को नजीर दे सकते थे कि नाना साहब की कारगुजारियों की खुद भगवान ने ही उन्हें सजा दे दी। आज की भाषा में इसे प्रोपगेंडा कहा जाता है। अंतरराष्ट्रीय संबंध पढ़ने वाले विद्यार्थी एक वाक्य प्रायः कोट करते हैं कि *प्रोपगेंडा अगेंस्ट वॉर इज एनदर वॉर प्रोपेगेंडा*। इस वाक्य से साफ होता है कि बागियों और अंग्रेजों दोनों की तरफ से अफवाहों का खूब प्रचार किया गया, अपने-अपने उद्देश्यों के लिए। चूंकि अंग्रेज अंततः विजेता बनकर उभरे, इसलिए बाद तक उन्हें गदर के बारे में मनचाही बातें करने का समय और शक्ति मिल गई। मगर अब जब भारतीय ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त होकर गदर पर विचार कर रहे हैं, तो उस दौरान फैली अफवाहों की प्रकृति और उनके मनोविज्ञान पर भी विचार करना जरूरी जान पड़ता है।

# संदर्भ सूची


1 रामकहानी-सीताराम, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन,दिल्ली, पेज 148

2 सीताराम पेज 151

3 माई इंडियन म्यूटिनी डायरी, लेखक- विलियम हावर्ड रसेल, संपादक मिशेल एडवर्ड्स, कैशल एंड कंपनी लिमिटेड, लंदन, पेज 280

4 रसेल, पेज 197

5 रसेल, पेज 180

6 रसेल, पेज 288

7 रसेल, पेज 288

8 रसेल, पेज 22

9 रसेल, पेज 22

10 रसेल, पेज 37

11 सीताराम, पेज 79

12 भारत का मुक्ति संग्राम, अयोध्या सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पेज 138

13 वही, पेज 263

14 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, संपादक देवेंद्र चौबे, बद्री नारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन संस्थान, पेज 335

15 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 340

16 पलासी से विभाजन तक, शेखर बंदोपाध्याय, ओरिएंट लांगमैन, हैदराबाद, पेज 191

17 पलासी से विभाजन तक, पेज 192

18 पलासी से विभाजन तक, पेज 192

19 विष्णुभट्ट की आत्मकथा, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, पेज 20

20 सीताराम, पेज 121

21 शम्सुल इस्लाम की इस किताब में ब्रिटिश गजेटियर के हवाले से बताया गया है कि बागियों की कौन-कौन सी रेजीमेंट में किस इलाके के कितने सिपाही थे। साथ ही इस्लाम ने एक और स्थापना दी है कि हिंदुस्तान के तमाम इलाकों पर अंग्रेजों का दोबारा कब्जा सुनिश्चित कराने वाले फौजी दस्तों में सिखों से कहीं ज्यादा संख्या हिंदुस्तानी सिपाहियों की थी।

1857 के बागी सिख, शम्सुल इस्लाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

22 भट्ट, पेज 79

23 भट्ट, पेज 102

24 रसेल, पेज 197

25 रसेल, पेज 32

26 रसेल, पेज 44

27 रसेल, पेज 88

28, नया पथ-1857 विशेषांक, मई 2007, संपादक मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, पेज 23

29 रसेल, पेज 87

30 रिबेलियन, संपादक- पी. सी. जोशी, नैशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पेज 130

31 वही, पेज 131

32 सीताराम, पेज 139

33 रिबेलियन, पेज 135

34 पलासी से विभाजन तक, पेज 189

35 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 326

36 भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, बिपिन चंद्र, हिंदी माध्यम क्रियान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पेज 9

37, रसेल, पेज 165

38 सीताराम, पेज 36

39 रसेल, पेज245

40 सीताराम, पेज 29

41 सीताराम, पेज 61

42 सीताराम, पेज 47

43 रसेल, पेज 10

44 भट्ट, पेज 27

45 सीताराम, पेज 137

46 रसेल, पेज 246

47 सीताराम, पेज 139

48 सीताराम, पेज 139

49 वही, पेज 139

50 भट्ट, पेज 27

51 रसेल, पेज 40

52 रसेल, पेज 129
53 रसेल, पेज 43
54 भट्ट, पेज 60
55 रसेल, पेज 174
56 रसेल, पेज 175
57 सीताराम, पेज 30
58 रसेल, 250
59 सीताराम, पेज 39
60 सीताराम, पेज 38
61, रसेल पेज 86
62 रसेल, भूमिका- पेज 9
63 रसेल, भूमिका- पेज 11
64 रसेल, पेज 29
65 रसेल, पेज 35
66 भट्ट, पेज 52
67 रसेल, पेज 87
68 रसेल, पेज 102
69 भट्ट, पेज 88
70 भट्ट, पेज 114
71 रसेल, पेज 205
72 रसेल, पेज 209
73 रसेल, पेज 197
74 रसेल, पेज 198
75 रसेल, पेज 104
76 भट्ट, पेज 108
77 रसेल, पेज 75
78 रसेल, पेज 114
79 रसेल, पेज 232
80 रसेल, पेज 264
81 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, पेज 9
83 रसेल, पेज 286
84 सीताराम, पेज 19

85 भट्ट, पेज 12

86 सीताराम, भूमिका से

87 सीताराम, पेज 25

88 भट्ट, पेज 62

89 रसेल, पेज 91

90 रसेल, पेज 189

91 रसेल, पेज 150

92 सीताराम, पेज 39

93 सीताराम, पेज 85

94 1857 भारत का पहला मुक्ति संग्राम, पेज 326

95 सीताराम, पेज 118

96 मीडिया, 1857 विशेषांक, अतिथि संपादक- रवींद्र त्रिपाठी, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, पेज 76।

97 वही,पेज 230

98 सीताराम पेज 91

99 99 कथा अंक 12, अक्टूबर 2007, पेज 12

100 वही, पेज 11

101 सीताराम, पेज 119

102 भट्ट, पेज 59

तीसरा अध्याय

# 1857 का विद्रोहः लोकजीवन

# 1857 का विद्रोहः लोकजीवन

1857 पर विचार करते समय प्रायः उन्हीं घटनाओं का जिक्र या विश्लेषण होता है, जो या तो गदर के दौरान हुए प्रमुख हमलों से सीधे जुड़ी हुई थीं या फिर शासक वर्ग के चरित्र को उजागर करने में मददगार थीं। मगर इतिहास सिर्फ अभिजात्य वर्ग का नहीं होता। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया का दायरा जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा है, प्रत्येक वर्ग फिर चाहे वह दलित हो या स्त्री या फिर कामगार वर्ग, सभी का अपनी-अपनी दृष्टि से इतिहास लेखन का आग्रह बढ़ता जा रहा है। ऐसे में गदर का इतिहास लिखते समय उस समय के लोक का भी इतिहास नए सिरे से लिखना होगा। उस समय के जीवन की छोटी-छोटी विशिष्टताएं एक सांस्कृतिक परिदृश्य गढ़ती थीं, जिनके पाठ के बिना राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण उपादान अछूता रह जाएगा। आलोचक दीपक कुमार राय अपने एक लेख में ठीक ही नोटिस करते हैं कि '1857 को लेकर भी शिष्ट साहित्य में शिष्ट संस्कृति की कोशिश यही रहती है कि इस मुक्तिगाथा में आमजन की हिस्सेदारी को नगण्य बताया जाए। लोक के प्रतिरोध पर टिके इस ऐतिहासिक मुक्ति संग्राम में लोक की भूमिका को रिड्यूस कर देने की हरचंद कोशिशें हुईं।...वहीं दूसरी ओर एक इतिहास लोकमन, लोकस्मृतियों में बनता-बिगड़ता रहता है और लोककंठों में ज्यादा सुरक्षित रहता है। वह कदाचित ज्यादा प्रामाणिक इतिहास होता है, क्योंकि वह दर्ज कराया गया नहीं, संचित इतिहास होता है। दरअसल लोक छोटे-छोटे अनुभवों को जीता है, उन छोटे-छोटे अनुभवों के व्यापक सरोकारों को चीन्हता टटोलता है, उन्हें अपनी परंपरा और निष्ठा से जोड़ लेता है। 1857 को जरा इस नजरिए से भी देखें।'[1] इसी नजरिए का विस्तार करते हुए इस अध्याय में विवेच्य तीनों किताबों के आधार पर गदर के समय-समाज के लोकजीवन का विश्लेषण किया गया है।

आज के भारत के लिए हिंदुस्तान शब्द का प्रयोग समानार्थक शब्द की तरह होता है, लेकिन 1857 के दौरान हिंदुस्तान शब्द का निहितार्थ हिंदी प्रदेश से था। इसी वजह से शोध के शीर्षक में भी *हिंदी समाज* शब्द का प्रयोग किया गया है। इस आग्रह के पीछे विवेच्य किताबों, विष्णुभट्ट की आत्मकथा (माझा प्रवास) और रामकहानी-सीताराम का योगदान महती है। विष्णुभट्ट महाराष्ट्र के पुणे जिले में स्थित एक गांव वरसई के रहने वाले थे। तीन भाइयों वाले उनके घर में पिता का व्यवसाय पुरोहिती था, लेकिन उनकी उम्र बढ़ने के साथ घर में दरिद्रता छाने लगी। इसी कारण विष्णुभट्ट ने हिंदुस्तान जाने

की ठानी। वजह बनी ग्वालियर में होने वाला बायजाबाई का यज्ञ। हिंदुस्तान जाने के क्रम में उनके पिता द्वारा दी गई नसीहतें इस क्षेत्र के बारे में आम धारणा की एक झलक पेश करती हैं। विष्णुभट्ट के पिता कहते हैं कि 'हिंदुस्तान बड़ी दूर है, रास्ता भी अनजाना। दंगे-धोखे वाला। वहां के लोग भांग पीते हैं। स्त्रियां मायाविनी होती हैं। पुरुषों को अपने वश में कर लेती हैं।'[2]

दूसरे देस की स्त्रियों के प्रति यह दृष्टि आज की तारीख में नई नहीं जान पड़ती। हिंदी प्रदेश के लोग जब बंगाल और असम में नौकरी करने जाते थे, तब भी कमोबेश इसी तरह की बातें कही जाती थीं। कहा जाता था कि पूर्व देश की कन्याएं जादूगरनी होती हैं। पुरुषों को मेढ़ा बनाकर अपने घर के दरवाजे पर बांध लेती हैं। इन सबकी वजह एक ही थी कि दूर देस जाने वाले लोग स्त्री संसर्ग की अभिलाषा में वहीं के होकर रह जाते थे और पीछे उनके देस में ये कहानियां गढ़ ली जाती थीं। संचार माध्यमों के अभाव के कारण इस तरह के मिथक खूब प्रचलित हुए।

सीताराम और विष्णुभट्ट दोनों ही जाति से ब्राह्मण थे। सीताराम अवध क्षेत्र के रहने वाले थे, जहां अंग्रेजों की आमद पहले हुई। इसी कारण बंगाल रेजीमेंट के सिपाहियों में यहां के लोगों की भरमार थी। इसके अलावा भूमि बंदोबस्त और दूसरी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यहां के लोगों के पास उपजाऊ जमीन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में थी, जिसके कारण अंग्रेजों के आने तक उनकी समृद्धि को उस अनुपात में ग्रहण नहीं लगा था। उधर महाराष्ट्र में मराठों के उदय के साथ ही दूसरे किस्म के भूमि समीकरण स्थापित हो चुके थे। वहां ब्राह्मणों का पेशवा के रूप में अभ्युदय तो हुआ, मगर एक वर्ग के रूप में इस जाति का भूमि पर आधिपत्य स्थापित न हो पाया। इसी कारण विष्णुभट्ट सरीखे तमाम परिवारों के लिए आजीविका का एकमात्र साधन पुरोहिती ही था। गौरतलब है कि इसी जीविका संबंधी आग्रह के चलते ही विष्णुभट्ट ने हिंदुस्तान जाने का फैसला किया। यह पौरोहित्य कर्म सीताराम और बाणभट्ट दोनों के ही गति निर्धारण में अहम भूमिका निभाता है। बाणभट्ट जब घर से निकलते हैं तो उनका कर्मकांडी भाई उनके लौटने तक एकादशी व्रत रखने का संकल्प लेता है। खुद विष्णुभट्ट का मानना है कि 'भाई का यह पुण्य मेरे हर संकट में काम आया।'[3]

तत्कालीन भारत में चिकित्सा के नाम पर आयुर्वेद, स्थानीय जानकारी के आधार पर इलाज और मंत्रों के द्वारा उपचार का बोलबाला था। विष्णुभट्ट अपने दो साला सफर के दौरान कई बार इसी तरह के देसी उपचार की मदद लेते हैं। कई बार कोई अनजाना बैरागी आकर उन्हें उपचार बता देता है। लेकिन कई बार अज्ञानता के फेर में सहयात्रियों

की जान पर भी बन आती है। जैसे एक प्रसंग आता है कि विष्णुभट्ट वरसई से ग्वालियर की यात्रा को निकले ही थे कि अहमद नगर में रुकने के दौरान एक पंडित को सांप ने काट लिया। इस पर उपचार करने के बजाय पहले मंत्रों से सांप का जहर उतारने की कोशिश की गई। विष्णुभट्ट का आख्यान पढ़ने पर जान पड़ता है कि इस समय के साधु या भट्ट के शब्दों में कहें तो *बैरागी* स्थानीय उपचार के जरिए चिकित्सा में खासे माहिर थे। बांदा में भट्ट को फोड़ा निकल आया। चलने-फिरने में भी बेहद तकलीफ थी। एक रात बाद एक बैरागी उस स्थान पर आया जहां भट्ट ठहरे हुए थे। उसने बीमारी के बारे में जानकर एक हरा पत्ता मसलकर घाव पर लगाया। दो घंटे में ही भट्ट की सूजन कम हो गई और दर्द भी ठीक हो गया।[4]

इसी तरह से एक बार सफर में ही भट्ट के काका को लू लग गई। साथ की मंडली के मुसाफिर उन्हें इस हालत में छोड़कर चले गए। तभी रात में एक बैरागी घूमता हुआ आया और काका को खारे पानी से नहलाने का उपचार बताया। दो घड़े उलटते ही काका में चैतन्यता आ गई।[5]

पढ़ाई का काम मूलतः पंडितों और मौलवियों के हाथ था। विष्णुभट्ट की तरह ही सीताराम पांडे को भी एक पुरोहित पंडित दिलीप राम ने शिक्षा दी। अपने अधययन से संबंधित ब्यौरे लिखते हुए सीताराम जिन घटनाओं को बताते हैं उनसे उस समय की जाति प्रथा की तीव्रता के संकेत मिलते हैं। सीताराम लिखते हैं कि 'पढ़ना सीखने के बाद मैं और भी सीना फुलाकर चलने लगा। मैं अपनी उम्र के और लड़कों से खुद को बहुत आगे समझता था और बाकी जात के लोग तो कभी मेरी गिनती में थे ही नहीं।'[6] देखने में साधारण सी यह बात फुले के तर्क की याद दिलाती है कि विया के बिना निचली जातियों का उत्थान नहीं हो सकता।

ब्राह्मण वर्ग को अपने धर्म को खोने का सबसे ज्यादा भय रहता था। इसकी सबसे बड़ी वजह थी सामाजिक वर्जना। जिस तरह विष्णुभट्ट को चलते समय पुरोहित और पिता ने पवित्र रहने की कसमें दिलाईं, उसी तरह सीताराम को भी पंडित दिलीप राम ने कसम दिलाई कि वह कभी जनेऊ का निरादर नहीं करेंगे।

शहरों में सामूहिकता की भावना से ओतप्रोत सामाजिक जीवन के साक्ष्य मिलते हैं। रसेल जब कानपुर पहुंचते हैं, तो वहां होने वाली मशहूर रामलीला का जीवंत वर्णन करते हैं। बकौल रसेल 'चर्च जाते समय मुझे एक मैदान में सत्तर-अस्सी फीट लंबे पुतले दिखाई दिए। यह रावण की विशाल आकृति थी, जो सीलोन (श्रीलंका) से भारत आया था और

उसने भगवान राम की पत्नी सीता का अपरहण कर लिया था। राम ने बंदरों की सहायता से उसका वध किया और अपनी पत्नी को मुक्त कराया। उसके बाद से बंदर हिंदुओं में विशेष रूप से पूज्य हैं। यह त्योहार रावण वध की याद में मनाया जाता है।'[7]

रसेल अपने वर्णन में शहर में दशहरा के उत्साह की खास तौर पर चर्चा करते हैं। उनके मुताबिक 'इस मेले के मौके पर खासे चटख रंग के कपड़ों में सजे नागरिक दिखाई देते हैं। शोरशराबे वाला संगीत बजाया जाता है। इन मामलों में हिंदुओं की कलाकारी ध्यान देने योग्य है।'[8]

रास-विलास में मुजरा शहरी व्यवस्था में मनोरंजन का एक अहम साधन था। लेकिन आज की तरह तब भी मुजरा देखने को आमजन सार्वजनिक रूप से तो अच्छा नहीं ही मानते थे। भट्ट अपने काका को कानपुर छोड़कर खुद लखनऊ जाते हैं, ताकि नाच देख सकें। भट्ट लिखते हैं कि 'लखनऊ की कोठेवालियों के चर्चे थे। दूर-दूर तक। उनकी गायकी मशहूर थी। ढूंढ-ढूंढ कर युवा यवनी स्त्रियों के ठिकानों पर गए। गाना सुनने। बहुत पैसा खराब हुआ।'[9]

रसेल भी शांति स्थापित होने के बाद जब कानपुर पहुंचे तो उन्हें एक दिन मुजरा देखने का मौका मिला। वह बताते हैं कि 'एक ब्रिटिश अफसर के साथ शहर के महाजन के यहां नाच देखने के लिए गया। शहर का यह इलाका काफी उजला था। बांस के खंबों के ऊपर रोशनी की गई थी। गलियों में काफी भीड़ थी। सभी एक ही दिशा में नाच देखने के लिए जा रहे थे।'[10]

रसेल जब कोठों का वर्णन करते हैं तो हिंदी सिनेमा में परंपरागत रूप से दिखाए जा रहे कोठे याद आ जाते हैं। एक बड़ा सा दालान, जिसमें दो किनारे खुले हुए। कमरों में बड़े-बड़े झूमर टंगे हुए। फर्श पर कालीन बिछा हुआ। खास लोगों को अंदर बैठाने का इंतजाम, आम जनता बाहरी गलियारों से नाच देखती हुई। रसेल को उनके मेजबान ने मुजरे की खास निशानी सफेद चमेली के फूलों का गजरा दिया, जो उनकी गर्दन की शोभा बढ़ाता रहा। इसके बाद तमाम खासो-आम के कपड़ों पर इत्र छिड़का गया। इसके बाद इलायची और पान देने का क्रम हुआ। रसेल लिखते हैं कि 'गाने और नाचने वाली औरतों उतनी खूबसूरत तो नहीं थीं, जितनी पटियाला दरबार में, लेकिन उनके गले बहुत मीठे थे।'[11]

लखनऊ और कानपुर संगीत और नृत्य के बड़े केंद्र रहे हैं। माना जाता है कि इन शहरों के कोठे तहजीब सीखने का एक बड़ा केंद्र थे। संगीत के संवर्द्धन में इन केंद्रों की अहम

भूमिका रही है। लेकिन विलास के इस दृश्य में रमते समय हमें यह भी याद रखना होगा कि इन्हीं कोठों से अज़ीजुन बाई जैसी देशभक्त भी निकली थीं, जिन्होंने गदर के वक्त अपने पेशे को ताक पर रखकर लड़ाई में हिस्सा लिया था। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि संगीत को आज भले ही बुरा न माना जाता हो, मगर लंबे अर्से तक भारत में, खास तौर पर ग्रामीण इलाकों में इसे बुरा काम माना जाता था। इसलिए जाहिर है कि इन नाचनेवालियों के लिए समाज की मुख्यधारा में कोई जगह नहीं थी।

### जाति और धरम का जोर

जाति एक ऐसा कारक है, जो आज तक भारत में सामाजिक बदलाव के रास्ते में सबसे बड़े व्यवधान के तौर पर सामने आता है। गदर के समय के समाज में जाति के बंधन और भी मजबूत थे। राज की नौकरी में सिपाहियों को जिन बातों ने सबसे ज्यादा भड़काया उसमें सुअर और गाय की चर्बी मिले कारतूसों के इस्तेमाल के अलावा दूर देश में तैनाती भी थी, जिसके कारण इन सिपाहियों को जात बाहर होना पड़ता था। जाति का दबाव किस कदर हावी था, इसे समझने के लिए सीताराम के जीवन के एक वाकये पर नजर डालें। बुंदेलखंड में पिंडारियों के अचानक हमले के बाद सीताराम घायल हो गए। रास्ते में उन्हें भैंसे चराते लड़का-लड़की मिले, लेकिन उन्होंने उनके हाथ का पानी नहीं पिया। जाहिर है कि मृत्यु शैया पर भी जातिगत श्रेष्ठता के संस्कार या डर हावी था। बाद में एक नजदीक के गांव पहुंचने पर भी सीताराम ने कुछ नहीं खाया क्योंकि उन्हें लगा कि वे लोग लोहार जाति के थे। हालांकि गांव लौटने पर पंडित दिलीप राम ने उस लड़की से लोटा मांगने पर ही सीताराम को जाति बाहर कर दिया और जाति भोज के फेर में सीताराम की सारी जमापूंजी खर्च हो गई।[12]

इसी तरह अफगान युद्ध के बाद वापस भारत लौटने पर भी सीताराम को अपनी रेजीमेंट में सामाजिक बहिष्कार सहना पड़ा। उनके सहयोगी उन्हें धर्म बाहर मानते थे और उनके साथ बुरा बर्ताव करते थे। इसी कारण गांव लौटने पर सीताराम को एक बार फिर जातिभोज देना पड़ा।

ठीक इसी जगह उस समय के समाज का एक बड़ा और दिलचस्प विरोधाभास सामने आता है। एक ओर तो सीताराम को दो-दो बार जाति भोज करना पड़ा, वहीं उनकी ठाकुर जाति की पत्नी को लेकर समाज में कोई भी सवाल नहीं उठा। अफगान युद्ध से लौटने के बाद सीताराम जब अपने गांव तिलाई पहुंचे तो उन्हें अपनी दूसरी पत्नी हिरनी ठकुराइन का कोई पता न चला। इस पर वह उसकी तलाश करते हुए बुंदेलखंड में उसके गांव पहुंचे। राजपूत जाति के हिरनी के भाई ने सीताराम को भरपूर सम्मान दिया और वह

अपनी पत्नी को साथ लेकर वापस लौटे। हालांकि यहां भी सीताराम के संस्कार जोर मारते रहे। वह लिखते हैं कि 'पहुंचने पर पता लगा कि उसका भाई बड़ा राजपूत है और उसके पास काफी जमीन-जायदाद है। वह जात में तो नहीं, लेकिन वैसे मुझसे बड़ा आदमी था।'[13] यहां पर समाज में श्रेणीबद्धता कायम रखने में जाति के साथ अर्थ का कारक साफ नजर आता है। जहां बड़े होने का पैमाना कभी जाति तो कभी जमीन हो जाता है।

अवध ही क्या पूरे हिंदुस्तान में जातिगत श्रेष्ठता पूरी तरह से सामाजिक ताने-बाने के निर्धारण में हावी थी। इसके साथ ही अहम की लड़ाई भी सामाजिक विन्यास के निर्धारण में अहम भूमिका निभाती थी। अमेठी के अभियान के दौरान रसेल लिखते हैं कि 'ताल्लुकेदारों में पुश्तैनी दुश्मनी चली आ रही थी। हालात ये थे कि एक ताल्लुकेदार विरोधी ताल्लुकेदार के इलाके में पानी तक नहीं पीते थे।'[14]

इसी तरह से *धरम* खोने का डर भी कई बार अहम भूमिका निभाता था। सीताराम को काबुल से लौटने के दौरान रास्ते में अफगानियों के हमले में एक गोला लगा और वह बेहोश हो गए। जब उन्हें होश आया तो उन्होंने खुद को बंदी हालत में पाया। आगे की कुदशा के बारे में सोचकर पहले तो वह खुद को मारे जाने की विनती करते रहे और बाद में हताश होकर अवधी और पश्तो में गालियां देने लगे। बकौल सीताराम 'मरने का डर मेरे मन से खत्म हो गया था। लेकिन एक धमकी ने मुझ पर असर किया। उन्होंने मुझसे कहा कि अगर मैं चुप नहीं हुआ तो वे मुझे खड़े-खड़े मुसलमान बना देंगे।'[15] बंदी बनने के बाद सीताराम को तीन साल तक गुलामी की जिंदगी जीनी पड़ी। इस दौरान उन्हें कुछ ऐसे काम करने का कोफ्त था, जो उनकी जाति को नहीं करने चाहिए थे। अक्टूबर 1843 में सीताराम एक व्यापारी के साथ 500 रुपये में सौदा कर किसी तरह काबुल से भाग निकले। फिरोजपुर छावनी में उनके साथी सिपाहियों ने उन्हें जात बाहर कर दिया। फिरोजपुर से अपनी पुरानी रेजीमेंट में दिल्ली पहुंचने पर भी सीताराम के साथ अछूतों जैसा व्यवहार जारी रहा। सीताराम के मुताबिक छावनी में केवल ईसाई, मुसलमान, नगाड़ची और बाजा बजाने वाले ही उनसे बात करते थे और उनके पास इतना पैसा नहीं था कि भोज-भात करके जाति में वापस आ सकें। उनके संगी साथी हमेशा ताना मारते थे कि सीताराम का खतना हुआ है और उसने गोमांस खाया है।

छुट्टी मिलने पर सीताराम गांव तिलोई वापस पहुंचे, लेकिन यहां भी जातिगत शुद्धता के भूत ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। उनके गांव में खबर फैल चुकी थी कि सीताराम मुसलमान हो गया है या मर गया। भाई ने जायदाद पर कब्जा करने की तैयारी कर ली थी। पिता ने एक बार फिर जाति भोज कर सीताराम की ग्राम समाज में वापसी कराई।

इतिहासकार बिपिन चंद्र द्वारा संपादित किताब *भारत का स्वातंत्र्य संघर्ष* के *1857 का विद्रोह* शीर्षक अध्याय में सीताराम के साथ हुई इसी घटना का हवाला देकर देश बाहर तैनाती और इसके चलते सिपाहियों को समाज से मिलने वाले दंश का हवाला दिया गया है। वह लिखते हैं कि 'सीताराम नाम का एक सिपाही जब अफगानिस्तान से लौटा, तो न सिर्फ उसे अपने गांव, बल्कि अपनी बैरक में भी जात-बाहर घोषित कर दिया गया। इस तरह कंपनी की नौकरी में होने की इज्जत उसे समाज में जगह नहीं दिला सकी, धर्म और जाति कहीं ज्यादा ताकतवर साबित हुई।'[16]

इस उदाहरण के बावजूद कहना न होगा कि अभी तक गदर पर केंद्रित इतिहास की किसी भी वृहद परियोजना में सीताराम के लेखन के सहारे सिपाहियों की स्थिति और अंग्रेजी राज की छवि का समानांतर आख्यान गढ़ने के गंभीर अकादमिक प्रयास नहीं हुए हैं। बस यूं ही इक्का-दुक्का उदाहरणों का प्रयोग अपनी स्थापनाओं के समर्थन में किया गया है।

ऐसा नहीं है कि धार्मिक विश्वास सिर्फ भारतीयों तक ही सीमित थे। उस समय भारत में रह रहे अंग्रेजों में भी धार्मिक आस्थाएं गहरे तक जड़ जमाए थीं। जब रसेल दिल्ली पहुंचे तो कुछ अंग्रेजों ने उन्हें बड़ी आस्था के साथ बताया कि एक चर्च पर बागियों ने बहुत गोलाबारी की, लेकिन चर्च के ऊपर लगे क्रॉस का बाल भी बांका नहीं हुआ। हालांकि इस विश्वास की हवा निकालते हुए रसेल लिखते हैं कि 'क्रॉस ठोस धातु का बना था, इसलिए गोलियों का उस पर कोई असर नहीं हुआ।'[17]

धर्म गदर की लड़ाई में एक अहम कारक था। इसमें तमाम धार्मिक मुसलमान सिर्फ इसलिए शामिल हो गए क्योंकि उन्हें यह *जिहाद* लगता था। हालांकि तत्कालीन संदर्भों में इस जिहाद का अर्थ विदेशी आक्रांताओं के खिलाफ अपने दीन को बचाने की लड़ाई से जुड़ा था। लेकिन आज हालत यह है कि विलियम डेलरिंपल जैसे मेहनती बुद्धिजीवी इस जिहाद का विस्तार अमेरिका के ट्विन टॉवर पर हुए हमलों में शामिल आतंकी तत्वों तक कर दिखाते हैं। 1857 के गदर में धर्म खासतौर पर इस्लाम का अपनी बहुचर्चित किताब *द लास्ट मुगल* की भूमिका में विस्तार से जिक्र करते हुए डेलरिंपल लिखते हैं कि 'दिल्ली के एक स्रोत के मुताबिक बलवे की एक वजह यह थी कि ब्रिटिशों ने मदरसों को बंद करवा दिया। 1857 का इतिहास लिखने वालों ने काफिर, मुजाहिदीन, जिहाद और ऐसे ही तमाम शब्दों की तरफ ध्यान नहीं दिया है। अब दुखद बात यह है कि 9/11 ( अमेरिका में ट्विन टावर पर अटैक) और 7/7 ( लंदन में जिहादी आत्मघाती हमले) के बाद हम इन सारे शब्दों को अच्छे से समझने लगे हैं और जिहाद जैसे शब्द हमारे स्रोत यानी

गदर के वक्त की पांडुलिपियों से चीख-चीखकर ध्यान दिए जाने की बात कर रहे हैं।'[18]

रसेल लड़ाई के एक मोर्चे पर जिदाहियों के बारे में विस्तार से लिखते हैं। उस विवरण से इन जिहादियों की मनोदशा का साफ पता चलता है। रसेल लिखते हैं कि 'ज्यादातर गाजी उम्रदराज लेकिन अच्छी कद-काठी वाले थे। वे हरे रंग की पगड़ी और हरे रंग का ही कमरबंद बांधे रहते थे। हर गाजी उंगली में कुरान की आयत वाली चांदी की अंगूठी पहने रहता था। वे पागलों की तरह अपनी जान की परवाह किए बिना हमला करते थे और हमला करते समय दीन-दीन की आवाज लगाते थे। हालांकि मध्यकालीन तरीकों से लड़ाई लड़ने के कारण ज्यादातर जिहादी या कहें कि गाजी अंग्रेजों के सामने ठहर नहीं पाते थे।'[19]

इन जिहादी तत्वों का अंग्रेजों में किस कदर खौफ था, इसका पता अंग्रेजों की एक योजना से चलता है। 'दिल्ली पर दोबारा कब्जे के दौरान कई अंग्रेज अधिकारियों के मन में आया कि मुस्लिमों को नीचा दिखाने के लिए आस्था की प्रतीक जामा मस्जिद को नेस्तनाबूद कर दिया जाए।'[20]

विष्णुभट्ट की आत्मकथा और रामकहानी-सीताराम के साक्ष्य हिंदुओं की सामाजिक सोच के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मुहैया कराते हैं। रसेल भी अपनी डायरी में लश्कर के ब्यौरे ज्यादा दर्ज करते हैं और रास्ते में दिखने वाली घटनाओं के आधार पर तत्कालीन समाज पर ज्यादातर टिप्पणी वाले अंदाज में लिखते हैं। संभव है कि यह उनके पेशे की बाध्यता रही हो। समाज के एक प्रमुख वर्ग मुस्लिमों के बारे में उनका लेखन बहादुरशाह की स्थिति या फिर गाजियों से हुई एक मुठभेड़ के वर्णन तक ही सीमित रहा है।

**लोकविश्वास**

समाज में अंधविश्वास या किन्हीं प्रसंगों में लोकविश्वास बहुत प्रचलित थे। कई बार इन्हीं अंधविश्वासों से आगत भविष्य के अनुमान लगाए जाते थे। मसलन, 'रानी लक्ष्मीबाई के राज में झांसी में एक मंडली ने राजा हरिश्चंद्र पर एक नाटक खेला। उसमें घड़ा फोड़ने का एक दृश्य था। इसके लिए रानी से पहले से अनुमति भी ली गई। फिर भी इस दृश्य के बाद उपस्थित लोगों में खुसर-फुसर शुरू हो गई।'[21]

इसी तरह विष्णुभट्ट कानपुर पर अंग्रेजों के हमले के बाद नाना साहब के बिठूर से कूच करने के दृश्य का वर्णन करते हैं। भट्ट के मुताबिक 'नाना के निकलते ही अशुभ संकेतों की भरमार सी आ गई। लकड़हारा नजर आया, भस्म लपेटे तैलंग ब्राह्मण नजर आया और

घोड़ों की आंखों से पानी टपकने लगा।'[22]

जाहिर है कि इस तरह की व्याख्याओं में कर्मकांडी ब्राह्मणों का खासा योगदान रहता था। मसलन, जब कानपुर बीवीघर हादसा हुआ तो इसे अशुभ संकेत माना गया। भट्ट लिखते हैं कि 'वेदों में भी स्त्री हत्या की मनाही है, फिर भी ऐसा हुआ। लोग कहने लगे कि यह राज ज्यादा दिन तक नहीं टिकेगा।'[23]

इसके अलावा कुछ दिलचस्प लोकविश्वास भी देखने को मिलते हैं। मसलन ध्रुव तारा देखने पर इंसान की उम्र छह महीने बढ़ जाती है। इसी बात को आधार बनाकर भट्ट अपने काका को सुरक्षित वरसई लौटने का ढाढस बंधाते हैं। इसी तरह सीताराम को हमेशा लगता है कि पंडित दिलीप राम की जंत्री के कारण उनकी जान बची रही। इस जंत्री में हजार यज्ञों की भस्म थी।

राजकाज चलाने में भी कर्मकांड प्रायः निर्देशक तत्व की भूमिका निभाते थे। इनमें से कुछ तो बेवकूफाना जान पड़ते हैं। हालांकि इस तरह की टिप्पणी करते समय हमें यह याद रखना होगा कि धर्म उस समय के आचार का प्रमुख निर्धारक कारक था और सामंत अपनी सत्ता के लिए शक्ति के अलावा भक्ति पर भी आश्रित थे। जब लक्ष्मीबाई ने झांसी में शासन करना शुरू किया तो एक मोर्चे पर तो सैन्य तैयारियां जारी थीं, वहीं किले के अंदर तमाम ब्राह्मणों को न्योत कर हवन किए जा रहे थे।

भट्ट को सपने बहुत आते थे। इन सपनों के बाकायदा अर्थ निकाले जाते थे। मसलन, जब भट्ट अपने काका के साथ झांसी में फंसे हुए थे तो उन्होंने सपने में देखा कि कई लोग नदी पार कर रहे हैं। बीच नदी में पानी बढ़ने लगा और भट्ट उसमें डूबने लगे। तभी एक हट्टे-कट्टे आदमी ने उन्हें हाथ पकड़कर बाहर निकाल लिया और कहा कि घबराओ नहीं, तुम्हें बचाने आया हूं।[24] इसी तरह वरसई कांवर ले जाते हुए भी भट्ट को सपने में एक बालिका दिखाई दी और उसने हंसते हुए कहा कि 'अब तक मैं तुम्हारी परीक्षा ले रही थी, इसलिए तुम्हारे कांवड़ का वजन बढ़ गया था। अब तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होगी।'[25] भट्ट ने जब काका से अपने नदी वाले सपने की बात कही तो काका भी यही बोले कि 'घबराओ मत, अब हमारी जान को कोई खतरा नहीं।'[26] इसी तरह भट्ट ने लक्ष्मीबाई के भी एक सपने का वर्णन किया है। इसके मुताबिक रानी सपने में देखती हैं कि 'झांसी में युद्ध चलने के दौरान एक विलक्षण सौंदर्य वाली स्त्री अंग्रेजों द्वारा किले पर बरसाए जा रहे तोपों को खुद झेल रही है। इस फेर में उसके हाथ भी काले पड़ गए हैं। अगले दिन रानी ने सबको अपना सपना बताया।'[27]

जाहिर है कि सपनों को कभी आगत भविष्य के संकेत और कभी दैवीय संकेतों के तौर पर देखा जाता था। आज के वक्त में सपनों की फ्रॉयड से लेकर तमाम मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांतों पर आधारित व्याख्याएं मौजूद हैं, लेकिन भारत के ग्रामीण इलाकों में आज भी सपनों की तमाम सकारात्मक-नकारात्मक लेकिन जड़ व्याखाएं होती रहती हैं।

### स्त्रियों की दशा

1857 के हिंदी समाज में स्त्रियों की दशा शोचनीय थी। 1857 पर उपलब्ध साक्ष्यों को पढ़ने से इस दशा की तस्वीर के कई रंग सामने आते हैं। कमोबेश आज की अरेंज मैरिज की तर्ज पर ही सीताराम का विवाह संपन्न हुआ। जब सीताराम की वधू पक्ष की नाइन से मुलाकात हुई तो उसने पत्नी को बहुत सुंदर बताया। सीताराम लिखते हैं कि 'आपको मालूम हो कि हमारे यहां शादी मां-बाप तय करते हैं और हम लोग शादी होने तक अपनी पत्नी का चेहरा भी नहीं देख पाते। मैंने कई बार अपनी होने वाली पत्नी की शक्ल देखने की कोशइश की। कई बार उसकी नाईन से पूछा। मुझे सिर्फ इतना बताया गया कि उसकी गर्दन फाख्ते जैसी है, पैर कमल के पत्तों जैसे और यह कि उसके दिल में मेरे लिए बहुत प्यार है।'[28]

खालिस रीतिकालीन सौंदर्यशास्त्र की तर्ज पर किया गया यह वर्णन उस समय हवा हो गया, जब छह महीने बाद शादी हुई। भारी निराशा में डूबे सीताराम बताते हैं कि पत्नी वैसी ही थी, जैसे चंद्रमा को चेचक हो जाए। हालांकि सीताराम सीधे तौर पर खुद तो नहीं कहते, मगर जिस तरह से वह आगे सिर्फ पैसों के प्रसंग में एक बार इस पत्नी का जिक्र करते हैं, उससे इस संबंध के प्रति उनकी अनिच्छा का पता चलता है। मगर यह सीताराम के जीवन में स्त्री संसर्ग का अंत नहीं था। मराठा अंचल में एक अभियान के दौरान सीताराम की मुलाकात एक दूसरी युवती हिरनी से होती है, जिससे उन्हें बाकायदा प्रेम भी होता है। उस समय स्त्रियां खुद अपनी स्थिति को लेकर कितनी भयभीत रहती थीं, इसकी बानगी सीताराम की इस प्रेमिका (जो बाद में उनकी दूसरी पत्नी भी बनी) के वक्तव्य से मिलती है। जब सीताराम ने हिरनी ठकुराइन को पिंडारियों के चंगुल से मुक्त कराया तो उसने पहला वाक्य यही बोला कि 'अब आप ही मेरे मालिक हैं, मेरी इज्जत लुट गई है।'[29]

उस समय के समाज में पर्दा प्रथा का खासा प्रचलन था। ऐसे ही एक प्रसंग का जिक्र रसेल करते हैं। उनके मुताबिक 'मेरे डोली हांकने वाले सुखीराम की पत्नी भी लश्कर में हमेशा साथ चलती थी। लेकिन मैंने कभी पर्दे के पीछे छिपे उसके चेहरे को नहीं देखा।

जब यात्रा के अंतिम पड़ाव में मैं सबको इनाम देकर विदा लेने लगा तो शायद पति को मिले इनाम से खुश होकर श्रीमती सुखीराम ने एक बार ही सही अपना घूंघट ऊपर किया। वह निश्चित तौर पर एक खूबसूरत महिला थी। जब तक मैं कुछ बोलता, श्रीमती सुखीराम ने एक बार फिर घूंघट कर लिया।'[30]

तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों की इन आम महिलाओं की स्थिति में कोई खास रुचि नहीं थी। लेकिन मुगल बादशाह की पत्नियां उनके स्कैनर पर रहती थीं। रसेल जब मुगल बादशाह और उनके कुनबे को देखने लाल किले जाते हैं तो एक ब्रिटिश कमिश्नर शहंशाह की एक युवा बेगम के चरित्र पर सवाल उठाता है। कमिश्नर का मानना था कि इस औरत से पैदा हुआ वारिस मुगल खून की नुमाइंदगी नहीं करता क्योंकि अव्वल तो राजा की उम्र अब इतनी नहीं कि वे किसी औरत को गर्भवती कर सकें, दूसरा, इस रानी का चरित्र खराब है। मध्यकालीन कथाओं में हम ऐसी तमाम कहानियों पर सिर खपाते हैं, जिसमें बड़े हरम में रहने वाली रानियों के अपने दासों से संबंधों की रंगीनियां बयान की गई हों। मगर इस प्रसंग में ब्रिटिश कमिश्नर का दावा कितना कमजोर था, इसकी ताकीद खुद रसेल ही कर देते हैं। रसेल के मुताबिक 'इन सारी जानकारियों के बावजूद मैं कहना चाहूंगा कि इस मुगल राजकुमार की नाक अपने वालिद यानी बहादुर शाह की तरह और होंठ अपनी मां जुमा बख्त की तरह थे।'[31]

दरअसल मुगलों की सत्तालोलुप और कामुक छवि का अंकन करने के अपने साम्राज्यवादी फायदे थे। इस आधार पर उन्हें नकारा शासक ठहराया जा सकता था और कमिश्नर की कहानियां इसमें सहायक ही ठहरती थीं।

औरतों को चरित्र के लिए सबसे बड़ा खतरा समझने में ब्राह्मण धर्म की भी अहम भूमिका थी। जब विष्णुभट्ट हिंदुस्तान की यात्रा शुरू करते हैं तो उनके पिता समझाते हैं कि वहां की औरतें बड़ी मायावी होती हैं। जाहिर है कि यह सोच एक खास मानसिकता को ध्वनित करती है। बहरहाल, पिता की इस नसीहत को गांठ बांधे विष्णुभट्ट यात्रा पूरी करते हैं। इस दौरान अंग्रेजों के एक हमले के दौरान झांसी में एक बखरी में छुपने पर वह एक लड़की के शरीर के काफी नजदीक पहुंच जाते हैं, लेकिन उनके मन में कोई रस नहीं उपजता। इसी तरह वरसई लौटते हुए एक रात एक यजमान की पति द्वारा त्यागी कन्या भी उनसे प्रणय निवेदन करती है, लेकिन भट्ट प्रभु का नाम लेकर उसके चंगुल से बच निकलते हैं।[32]

घर चलाने में स्त्रियों की अहम भूमिका होती थी। इस बारे में सीताराम के अक्षर गुरु

पंडित दिलीप राम की सीख ध्यान देने योग्य है। 'पंडित जी अकसर कहा करते, बेटा औरतों की सलाह पर भरोसा करना चाहिए, वे बर्फ की तरह होती हैं। सुबह एकदम पक्की और ठोस। दिन निकलने पर गल जाती हैं।'[33]

ऐसा नहीं है कि हर जगह स्त्रियों की दशा बहुत शोचनीय ही रही हो। झांसी में हालात कहीं बेहतर थे। भटट लिखते हैं कि 'झांसी शहर का पानी स्त्रियों के लिए अनुकूल है। शारीरिक बनावट और बुद्धि से लेकर बहादुरी तक। स्त्रियों को हर तरह की आजादी, कोई रोक-टोक नहीं। नगरवधुएं भी बहुत हैं। कूटनी स्त्रियां भी। सार्वजनिक जीवन बहुत अनुशासित और निजी जीवन बहुत अराजक।'[34]

बहुत संभव है कि झांसी में रानी के प्रभाव के कारण स्त्रियों का जीवन घरों की चहारदीवारी तक सीमित न रहा हो। झांसी में लखनऊ की तर्ज पर ही बाकायदा स्त्रियों की एक सेना थी, जिसमें पूरन कोरी की पत्नी झलकारी बाई और सुंदर-मुंदर जैसी कई वीरांगनाएं शामिल थीं। गौरतलब है कि वीरांगना झलकारी बाई ने ही भांडेर फाटक से रानी के भागने के दौरान अंग्रेजों से मोर्चा लिया था। लेकिन भट्ट ने झलकारी के बारे में कोई ब्यौरा नहीं दिया है।

बागियों के प्रति अंग्रेजों के मन में किसी भी प्रकार की सद्भावना नहीं थी और अपने स्वजनों की हत्या की घटनाओं के बाद ऐसा होने की उम्मीद पालना भी मुमकिन नहीं लगता। फिर भी उनकी फौजी क्षमताओं और महिलाओं के प्रति सम्मान की दृष्टि कम-अज-कम रसेल के लेखन में बार-बार दिखाई देती है। मसलन, अवध में विद्रोह का संचालन करने वाली बेगम हजरत महल के बारे में बात करते हुए रसेल लिखते हैं कि 'यह बेगम महान ऊर्जा और क्षमताओं का परिचय दे रही हैं। इन्होंने पूरे अवध को अपने बेटे और बगावत के दौरान अवध के नवाब नियुक्त किए गए बिरजीस कद्र के इर्दगिर्द जुटा लिया है। इस इलाके के तमाम ताल्लुकेदारों ने बिरजीस की सत्ता को स्वीकार कर लिया है। हम भले ही इन नवाब की संवैधानिकता पर सवाल उठाएं, लेकिन स्थानीय जमींदार जो हालात को हमसे बेहतर समझने की हैसियत रखते हैं, उन्होंने बिरजीस को बिना किसी हिचक के स्वीकार किया है। क्या सरकार इन लोगों को बागी मानकर दंड देगी या फिर सम्मान के हकदार शत्रुओं के तौर पर देखेगी।'[35]

रसेल की टिप्पणी फौरी तौर पर यहीं समाप्त हो जाती है, लेकिन इतिहास बताता है कि अंग्रेज फौज ने इन्हें बागी ही समझा और अपनी पूरी ताकत के साथ इनका दमन किया। नील जैसे कमांडरों ने प्रतिशोध के नए मुहावरे रचकर गांव के गांव नष्ट कर दिए। हालात

यह हो गई कि उनके एक अधीनस्थ अफसर को कहना पड़ा कि 'सर अगर हम ऐसे ही कार्रवाई करते रहे तो हमें सप्लाई देने के लिए भी जनसंसाधनों की कमी पड़ जाएगी।'[36]

### सीमांत वर्ग की दशा

इस शोध के दौरान मुख्य सामग्री के तौर पर पढ़े गए तीनों ही विवरण एक अर्थ में समाज के कुलीन तबके का प्रतिनिधित्व करते हैं। सीताराम और विष्णुभट्ट दोनों ही ब्राह्मण थे। भले ही उनकी आर्थिक स्थिति बहुत बेहतर न रही हो, लेकिन सामाजिक स्थिति निश्चित तौर पर बेहतर थी। इसी तरह रसेल तो साहब बहादुर के देश की नुमाइंदगी कर रहे थे। जब इन तीनों ने अपनी जिंदगी से जुड़े वाकये बयां किए तो फुटनोट की तरह उनमें मज़दूरों का जिक्र आया है। मसलन जब सीताराम फौज में शामिल होने के लिए अपने मामा के साथ गांव से रवाना होते हैं तो उनका सामान एक बंडल में बंधा हुआ था, जिसे एक आदमी सिर पर लादकर चल रहा था। सीताराम बताते हैं कि 'उस आदमी को हम बचा हुआ खाना दे देते थे। यही उसको दिन भर की मेहनत के बदले मिलता और वह इतने से ही खुश था।'[37]

रसेल भी स्थानीय मजदूरों की दशा पर टिप्पणी करते हैं। अंबाला होते हुए शिमला की यात्रा करने के दौरान रसेल और उनके एक साथी के कारवां में 140 मजदूर शामिल थे। इनमें पालकी ढोने वाले और मशाल लेकर चलने वाले लोग शामिल थे। इनकी तरफ रात के अंधेरे में देखकर रसेल के दिमाग में बस यही ख्याल आता है कि 'हिंदुस्तान में आम आदमी की जिंदगी इतनी ही कठिनाई भरी रहती है।'[38]

ऐसा नहीं है कि गरीबी केवल ग्रामीण इलाकों में ही पसरी थी। भट्ट बताते हैं कि 'झांसी में भी भिखारियों की भरमार थी। एक बार रानी शहर भ्रमण को निकलीं तो ठंड से परेशान तकरीबन हजार एक भिखारी शहर के दक्षिणी दरवाजे पर जमा हो गए। जब रानी की सवारी गुजरी तो वे शोर करने लगे। दूसरे दिन रानी ने डुग्गी पिटवाकर भिखारियों को कपड़े बंटवाए।... उस रोज कपड़ों के लिए तकरीबन चार हजार भिखारी जमा हुए।'[39]

मजदूरों और गरीबों की सामाजिक स्थिति को अंग्रेजी राज के संदर्भ में देखना समीचीन होगा। रसेल लिखते हैं कि 'भारत में हमारे राज का प्रभाव कितना उथला है। यह आम आदमी के जीवन से जुड़ी संस्थाओं पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। घरेलू गुलामी बहुत आम है, जिसके बारे में हमारे कानून कुछ नहीं कर पाते। ऐसी कई घटनाओं के बाद मुझे लगता है कि भारत में हमारी सरकार पूरी तरह से राजनीतिक आधिपत्य तक ही खुद को सीमित किए हुए है और लोगों की सामाजिक स्थिति में बदलाव के लिए किसी भी किस्म

के प्रयास नहीं किए जा रहे हैं।' [40]

रसेल के मुताबिक अंग्रेज हाकिम घरेलू नौकरों के साथ हिंसक बर्ताव करते थे। लश्कर के एक पड़ाव के दौरान उन्हें ऐसे ही लहूलुहान नौकर दिखे।[41] मानव श्रम करने वाले दोहरी मार झेलते थे। 'गदर के दौरान वह बागियों के सीधे निशाने पर रहते थे क्योंकि उनके पास आत्मरक्षा के लिए कोई हथियार नहीं होते थे। इसके अलावा इस मजदूर वर्ग से अंग्रेज भी बुरा व्यवहार करते थे।'[42]

रसेल लिखते हैं कि 'मैं अपने किसी भी अनुभव से नहीं बता सकता कि भारत में हमारे नौकर कैसे जिंदा रह पाते हैं। कोई भी अंग्रेज सेवक इतना धैर्य और समर्पण अपने काम के प्रति नहीं दिखा सकता, जितना हमारी डोली ढोने वाले दिखाते हैं। ये बात घास काटने वालों और घोड़ों की देखभाल करने वालों पर भी लागू होती है।'[43]

किसानों की दशा पर टिप्पणी करते हुए रसेल लिखते हैं कि 'अवध के किसानों का कैसा जीवन है। कोई भी पक्ष इस लड़ाई में जीत हासिल करे, किसानों की हार तय है। बगावत और इसे कुचलने के लिए चलाए जा रहे अभियानों में, उसे दोनों ही पक्षों के द्वारा बुरी तरह से उत्पीड़ित किया जाता है।'[44]

रसेल की यह बात औपनिवेशिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित लगती है। पूरी डायरी में वह कहीं भी ऐसी किसी घटना का जिक्र नहीं करते जिसमें बागियों ने किसानों को सताया हो। शायद रसेल बगावत करने वाले सिपाहियों और उस समय सक्रिय लुटेरों में भेद नहीं कर सके।

उस समय के समाज में सूदखोरी का बहुत ज्यादा प्रचलन था। खुद सीताराम भी फौज में इस रवायत को अपनाते नजर आते हैं। हालांकि पकड़े जाने पर इस चक्कर में उनके कोर्ट मार्शल की भी नौबत आ गई थी। भट्ट भी बांदा पहुंचने पर हुंडी प्रथा से परिचित होते हैं। हुंडी वायदा कारोबार का एक पुराना रूप था, आज भी कई जगह यह प्रचलन में है। बांदा में साहूकार हरि कर्ण-रवि कर्ण से जुड़ा एक प्रसंग आता है, जिसमें भट्ट उस समय की धन संग्रह व्यवस्था और इससे जुड़े कुछ किस्सों के बारे में बताते हैं।[45]

### फौज के प्रति अवध में मोह

बंगाल रेजीमेंट का एक बड़ा हिस्सा अवध के सैनिकों से बना था, यह बात सभी जानते हैं। आखिर इसकी वजह क्या थी? इस बाबत सीताराम दिलचस्प ब्यौरा देते हैं। सीताराम के मामा हनुमान पैदल बटालियन में जमादार थे। उन्हीं के मुंह से कंपनी की नौकरी की तारीफ सुनकर सीताराम ने फौज में भर्ती होने की ठानी। उन्हें लगता था कि 'जमादार

की पदवी अवध के नवाब गाजीदीन हैदर के बराबर ही होती है।'[46]

एक तो अवध के ग्रामीणों के लिए शक्ति की एकमात्र कसौटी तत्कालीन अवध की नवाबी थी, दूसरा कंपनी का रुतबा गालिब करने में उसकी बढ़ती सैन्य क्षमता के अलावा नाते-रिश्तेदारों के जरिए उसके बारे में मिली आधी-अधूरी जानकारी भी योग देती थी। अंग्रेजों के बारे में तमाम तरह की बातों से यह पक्ष और भी पुष्ट होता है।

गदर के कारणों का हवाला देते हुए प्रायः धर्म भ्रष्ट होने के डर की बात कही जाती है। लेकिन यह देखना दिलचस्प है कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही सीताराम को उनकी मां फौज में जाने से रोकने के लिए धर्म भ्रष्ट होने का हवाला देती हैं। मगर उनके पिता लड़के को फौज में जाने की अनुमति दे देते हैं। इसके पीछे भी उनके अपने स्वार्थ हैं। सीताराम के पिता का 400 आम के पेड़ों वाले बाग का एक मुकदमा स्थानीय कोर्ट में चल रहा था। उन्हें लगता था कि अगर लड़का सिपाही बन गया तो लखनऊ की अदालत में मामले की पैरवी अच्छे से हो जाएगी। सीताराम बताते हैं कि 'यह बात सबको पता थी कि किसी सिपाही की अर्जी अगर उसका अफसर दस्तखत करके लखनऊ में रेजीडेंट साहब को भेज दे तो मामले की सुनवाई जल्दी हो जाती थी। उसका वजन घूस या रियायत के किसी आदमी की बात से ज्यादा हुआ करता था।'[47]

यह बात हमें उस तर्क को पुख्ता करने में मदद करती है, जिसके मुताबिक अवध के तमाम किसानों की अर्जियां कोर्ट में सूचीबद्ध थीं, जिसकी वजह से किसानों में अंग्रेजी शासन के प्रति क्षोभ था।

बागियों के लिए गदर एक विश्वास और कसौटी था। अगर इस महायुद्ध में कोई उनके साथ नहीं था, तो फिर निश्चित तौर पर उनका दुश्मन था, फिर वह चाहे कोई जमींदार हो, अंग्रेज परचम के तले लड़ने वाला अपना हमवतन या फिर अंग्रेज। इसीलिए जो सिपाही बगावत में बागियों के साथ नहीं आए, उनके साथ भी बुरा व्यवहार किया गया। मसलन, जब सीताराम की गतिविधियां संदिग्ध लगीं तो बागियों ने उन्हें बंदी बना लिया और अपने साथ लखनऊ ले जाने लगे। हालांकि रास्ते में अंग्रेज सवारों से सामना होने के कारण बागी भाग खड़े हुए और सीताराम की जान बच गई। रसेल को भी अवध के इलाके में अभियान चला रहे लश्कर के साथ चलने पर एक पड़ाव पर एक पूर्व सूबेदार मिला। उसने बताया कि बागियों ने हमें लूट लिया और मीलों तक बंदी बनाकर भी रखा। संभव है कि यह सूबेदार सीताराम पांडे ही रहे हों। बहरहाल किस्सा कोताह यह कि बागियों की यह दृष्टि बताती है कि तत्कालीन समय में उनके दिलोदिमाग में क्या चल

रहा था। अपने लक्ष्य के प्रति यह विश्वास संभवतः उस लोकजीवन के संस्कार की देन था, जिसमें दीन और जमीन को अपना सब कुछ माना गया है।

नस्लीय श्रेष्ठता किस तरह गुलामों के अंदर भी जगह बना लेती है, इसका परिचय भी रसेल की डायरी पढ़ने के दौरान मिलता है। एक तरफ तो सीताराम का पक्ष है, जिसमें वह बताते हैं कि अंग्रेजों के साथ हार के बाद सिख भी अंग्रेजी रेजीमेंट में शामिल होने लगे थे। लेकिन हिंदुस्तानी सिपाही उनको *गंदगी प्रसाद* कहते थे और उनसे प्रायः दूर ही रहते थे। दूसरी तरफ सिख हैं, जिन्होंने राज को गदर के दौरान कायम रखने में अहम भूमिका निभाई। दिल्ली पर कब्जे के बाद पहरेदारी जैसे अहम कामों में सिख सिपाहियों को ही लगाया गया। सिखों में हिंदुस्तानियों के प्रति किस कदर अवहेलना का भाव था यह दिल्ली प्रवेश के दौरान रसेल ने अनुभव किया। 'गोरों को किसी भी सुरक्षा जांच के स्तर पर अपना पहचान पत्र नहीं दिखाना पड़ता था, उनको सिख पहरेदार सलामी दिया करते थे, जबकि स्थानीय निवासियों की कई जगह जामातलाशी ली जाती थी और पहचान पत्र न होने पर वापस लौटा दिया जाता था।'[48]

तत्कालीन समाज में न्याय व्यवस्था पंगु होने के कारण लोगों में हथियार रखने की चाह भी बहुत थी। बुंदेलखंड जैसे कई इलाकों में घर में रोटी की व्यवस्था न होने पर भी लोहा ( हथियार) रखने की यह चाह आज भी मौजूद है। रसेल अपनी डायरी में लिखते हैं कि 'तलवार चलाने में स्थानीय निवासी बहुत निपुण होते हैं। अच्छे हथियार के लिए वे कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं। अवध के लोगों के लिए हथियार की चाह एक सनक की तरह लगती है। इसकी एक बड़ी वजह जीवन और संपत्ति के प्रति असुरक्षा की भावना है।'[49]

1857 के हिंदी समाज को संचालित करने वाले विश्वासों में गाय और गंगा का अमिट स्थान था। आज भी इन दोनों प्रतीकों को हिंदू खासी मान्यता देते हैं। गंगा के संदर्भ में गदर की स्मृतियों की बात करें तो कुंवर सिंह के जीवनकाल से जुड़ा वह दृश्य लोक की चेतना का अभिन्न हिस्सा है, जिसमें वह अंग्रेजों के खिलाफ एक अभियान के दौरान बांह में गोली लग जाने पर वह बांह काटकर गंगा मैया को समर्पित करते हैं। बहरहाल, गंगा की महत्ता इतनी ज्यादा थी कि नाना साहब अंग्रेजों के खिलाफ हार के बाद जब बिठूर त्यागते हैं तो भारी मन से कहते हैं कि 'हे गंगे भागीरथी मां, आज तक तुमने हर तरह से हमारी रक्षा की। तुम्हारी ही मर्जी से हमारा विछोह हो रहा है। जो ठीक लगता है करो, हम दीन लोग तुमसे क्या प्रार्थना कर सकते हैं।'[50]

जाहिर है कि न तो तब और न ही अब गंगा भारतीयों खासकर हिंदुओं के लिए सिर्फ नदी का ही दर्जा नहीं रखती। यह एक अखंड विश्वास और श्रद्धा का प्रतीक है। इसका सबसे बड़ा कारण तो नदियों के किनारे आबादी का फलना-फूलना है। जाहिर है कि पालक प्रकृति के प्रति अनुराग और इसी क्रम में श्रद्धा जन्मती ही है। इसी का एक उदाहरण उस समय नजर आता है, जब अंग्रेज फौज से दूर भागते हुए तांत्या टोपे स्थानीय लोगों की जानकारी की मदद से नर्मदा पार करते हैं। लेकिन अंग्रेज नदी पार नहीं कर पाते। इस पर तुरंत आस-पास के इलाकों में चर्चा होने लगती है कि 'नर्मदा मैया ने बागियों को तो जगह दे दी, लेकिन अंग्रेजों को नहीं।'[51]

मगर नदियों के प्रति अनुराग और भक्ति का यह भाव सिंधु के संदर्भ में बदल जाता है। इसकी सबसे बड़ी वजह यही है कि सिंधु पार करते ही एक अलग सभ्यता और अलग ही किस्म का भूगोल शुरू हो जाता है, जिससे गंगा-जमुना के मैदान में रहने वाले तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। इसी वजह से गदर के समय के भारतीयों के लिए सिंधु पार करने का मतलब था धरम जाना। मसलन, जब सीताराम अफगानिस्तान में फंसे होते हैं तब उन्हें अपना धरम बिगड़ने की याद आती है। अपने कष्टों के बारे में खालिस धार्मिक अंदाज में सोचते हुए सीताराम लिखते हैं कि 'अब समझ में आया कि सिंधु पार करने की मनाही क्यों थी।'[52]

अंग्रेजों को भी इन चीजों के प्रति भारतीयों की श्रद्धा का अंदाजा था। मसलन, बागियों की गंगा के प्रति श्रद्धा पर एक तरह से तंज कसते हुए रसेल लिखते हैं कि 'अवध का बागी ताल्लुकेदार भागता हुआ तराई तक पहुंच गया और उसकी यह शेखी हवा हो गई कि वह गंगा के तट पर फिरंगियों से लड़ते हुए शहीद होगा।'[53]

गंगा की तरह ही गाय भी हिंदुओं में खासी पवित्र मानी जाती है। दिल्ली में बागियों के कब्जे के बाद बहादुरशाह का शासन होने पर ईद के पहले बाकायदा यह हुक्म जारी किया गया था कि शहर में गोकशी न हो। इस आदेश का अमल सुनिश्चित कराने के लिए बाकायदा हर इलाके में थानेदारों के मार्फत गायों की गिनती भी कराई गई थी। जाहिर है कि ऐसा शहर में रहने वाली हिंदू जनता के विश्वासों की रक्षा के लिए ही किया गया था। रसेल भी हिंदुओं की इस गौभक्ति से जुड़ी एक घटना का ब्यौरा अपनी डायरी में देते हैं।

अमेठी के खिलाफ लॉर्ड क्लाइड अभियान संचालित कर रहे थे। एक दिन अंग्रेज कैंप को बागियों की सूचना मिलती है और इस तरह से योजना तैयार की जाती है कि उन्हें चौंकाते हुए हमला किया जाए। रातों-रात मार्च करके बागियों के पास पहुंचा गया, लेकिन

नजदीक पहुंचते ही अचानक कॉलम ठहर गया। इस बारे में दरियाफ्त करने पर रसेल को पता चला कि 'रास्ते में गाय और बैलों के झुंड के आ जाने के कारण सिपाही रुक गए थे। लग रहा था कि इधर-उधर खतरनाक अंदाज में दौड़ रहे ये जानवर, जो अवध में भरपूर पाए जाते हैं, सिपाहियों को गंभीर नुकसान पहुंचा सकते हैं। इसके बावजूद अच्छे हिंदुओं की तरह सिपाहियों ने इन जानवरों को लहूलुहान कर आगे बढ़ने के बजाय खुद घायल होने की स्थिति को स्वीकार कर लिया था। एक भी गोली चलाने के बजाय सिपाही आवाज लगाकर इन जानवरों को भगाने की कोशिश करते रहे। इस बीच बागी हमारी आवाज सुनकर भाग गए।'[54]

भारत की पश्चिमी सीमा से मुस्लिम आक्रांताओं के आने के साथ ही मुश्तरका तहजीब का एक नया अध्याय शुरू होता है। इन मुस्लिम हमलावरों ने मध्यकाल से ही भारत में अपना स्थायी ठिकाना बसाना शुरू कर दिया और इसके साथ ही प्राचीन भारतीय कला, स्थापत्य और संगीत आदि में मिश्रण की प्रक्रिया शुरू हो गई। इसी दौरान पंजाब की जमीन से एक लोककथा प्रचलित हुई, सोनी और महिवाल की। महिवाल के प्यार में डूबी सोनी अपने प्रेमी से मिलने के लिए नदी पार करके जाती थी। लेकिन उसे तैरना नहीं आता था। इस समस्या का समाधान निकला घड़े के सहारे। सोनी रोजाना रात में घड़े के सहारे नदी पार करती थी। इस प्रेमकथा का त्रासद अंत तब हुआ, जब सोनी के मामा ने एक दिन रोजाना इस्तेमाल में आने वाले घड़े की जगह कच्चा घड़ा रख दिया और सोनी बीच नदी में ही घड़े के टूट जाने के कारण डूब गई। देखने पर लगता है कि यह कथा थी, इसलिए नायिका को घड़े के जरिए नदी पार कराने की युक्ति कल्पना के सहारे इस्तेमाल में लाई गई। मगर रसेल की डायरी पढ़ने पर पता चलता है कि उन्नीसवीं सदी में भी कई हिंदुस्तानी घड़े के सहारे नदी पार करते थे। रसेल को अवध में अभियान के दौरान अपने लश्कर में एक सूचना मिली। सूचना यह कि स्थानीय पुलिस ने चार लोगों को गिरफ्तार किया है, जो अवध की तरफ से रात के अंधेरे में घड़े के सहारे गंगा पार करने की कोशिश कर रहे थे। इस घटना के बारे में बताने के बाद रसेल अपनी डायरी में दर्ज करते हैं कि 'भारत में घड़े को उलटा कर इसके सहारे नदी पार करने का तरीका बहुत ज्यादा प्रचलन में है। यात्री घड़े के ऊपर पानी की धार में खुद को लिटा लेते हैं और हाथ के सहारे चप्पू चला कर नदी पार कर लेते हैं।'[55]

रसेल के वर्णन से पता चलता है कि अवध में रात में खेत जोतने का चलन था। यह चलन अवध समेत उत्तर भारत के तमाम गांवों में आज भी देखा जा सकता है। इसकी वजह रसेल ने भी अपनी डायरी में दर्ज की है। वह लिखते हैं कि 'अवध में मशाल

जलाकर रात में खेत जोतने की प्रथा है। रात में खेत जोतने की अहम वजह होती है ओस, जिसकी वजह से मिट्टी गीली हो जाती है और हल चलाने में आसानी रहती है।'[56] हालांकि रसेल जिस प्रसंग में इस प्रथा का वर्णन करते हैं, उसमें दूर से आ रही रोशनी मशाल की रोशनी तले खेत जोतने की नहीं, बल्कि बागियों के लश्कर की है। मगर अंग्रेज अफसर स्थानीय ज्ञान के अपने दावे के कारण इसे खेती समझते हैं।

चोर-लुटेरों से बचने के लिए हिंदुस्तानी अपने तरीके के इंतजाम भी करते थे। झांसी प्रवास के दौरान भट्ट *बखरी* के इंतजाम से वाकिफ होते हैं। 'दीवारों के बीच में एक बखरी (संकरी खाली गली) बना दी जाती है। ये दीवारें घर के सामने के खाली मैदान में बनाई जाती हैं। वहां कोई सामान्य स्थिति में नहीं जाता, न आदमी, न ही जानवर। वीरान इलाका, चारों ओर टूटी दीवारें। बुंदेलखंड में चोरी-चकारी बहुत होती है। लोग डर से घर का सामान दीवार की बखरी में रखते हैं। इसी वजह से दीवारें मोटी होती हैं। सारा सामान दीवार के अंदर। घर के दरवाजे खुले रहें तो भी कोई फर्क नहीं। दीवार में खिड़कियां नहीं हैं। न रोशनी, न हवा।' [57] इसी बखरी में अंग्रेजों की लूटमार के दौरान भट्ट ने दो बार अपनी जान बचाई।

लोकजीवन के उपरोक्त ब्यौरे ऊपरी तौर पर महत्वहीन से लग सकते हैं, लेकिन यही उस समय के भारतीयों के वास्तविक जीवन के ब्यौरे भी हैं। ये वही भारतीय हैं, जिनके ऊपर सभ्यता का शासन लागू करने का अंग्रेज तर्क देते थे। ये वही भारतीय हैं, जिनका दीन और ईमान अंग्रेजी शासन की वजह से खतरे में पड़ गया था और इसे बचाने के लिए वे तमाम जोखिम लेकर उठ खड़े हुए थे। गदर के समय-समाज के लोकजीवन पर उपरोक्त वर्णन महज तीन किताबों पर आधारित हैं, मगर उस समय के समाज से जुड़े सभी स्रोतों खासतौर पर लोक के स्रोतों, जैसे लोकगीत और मिथकों का व्यवस्थित अध्ययन गदर के अध्ययन से संबंधित किसी भी वृहत परियोजना का हिस्सा होगा, ऐसी उम्मीद है।

# संदर्भ सूची


1. 1857 भारत का पहला मुक्ति संग्राम, संपादक- देवेंद्र चौबे, हितेंद्र पटेल, बद्रीनारायण, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, पेज 72
2. विष्णुभट्ट की आत्मकथा, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, पेज 20
3. भट्ट, पेज 24
4. भट्ट, पेज 118
5. भट्ट, पेज 113
6. रामकहानी-सीताराम, अनुवादक -मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, पेज 22
7. माई इंडियन म्यूटिनी डायरी, विलियम हावर्ड रसेल, कैसल एंड कंपनी, पेज 202
8. रसेल, पेज 203
9. भट्ट, पेज 141
10. रसेल, पेज 204
11. रसेल, पेज 204
12. सीताराम, पेज 58
13. सीताराम, पेज 117
14. रसेल, पेज 223
15. सीताराम, पेज 106
16. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, बिपिन चंद्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पेज 4
17. रसेल, पेज 177
18. द लास्ट मुगल, विलियम डेलरिंपल, पेंग्विन-वाइकिंग, दिल्ली, पेज 23
19. रसेल, पेज 146
20. रसेल, पेज 179
21. भट्ट, पेज 75
22. भट्ट, पेज 53
23. भट्ट, पेज 52
24. भट्ट, पेज 87
25. भट्ट, पेज 149
26. भट्ट, पेज 87

27. भट्ट, पेज 85
28. सीताराम, पेज 57
29. सीताराम, पेज 61
30. रसेल, पेज 163
31. रसेल, पेज 170
32. भट्ट, पेज 153
33. सीताराम, पेज 95
34. भट्ट, पेज 72
35. रसेल, 71 पेज
36. रसेल, पेज 45
37. सीताराम, पेज 26
38. रसेल, पेज 183
39. भट्ट, पेज 71
40. रसेल, पेज 116
41. रसेल, पेज 129
42. रसेल, पेज 133
43. रसेल, पेज 248
44. रसेल, पेज 228
45. भट्ट, पेज 111
46. सीताराम, पेज 23
47. सीताराम, पेज 24
48. रसेल, पेज 166
49. रसेल, पेज 255
50. भट्ट, पेज 56
51. भट्ट, पेज 127
52. सीताराम, पेज 89
53. रसेल, पेज 239
54. रसेल, पेज 223
55. रसेल, पेज 205
56. रसेल, पेज 270
57. भट्ट, पेज 92

# अध्याय चार

# संस्मरणः शैली और भाषा

# संस्मरण का शिल्प

इस अध्याय में विवेच्य किताबों की भाषा और शिल्प पर विचार करना अपेक्षित है। मगर इसके साथ एक जटिल प्रश्न भी जुड़ा हुआ है और वह सवाल है इन किताबों के स्वरूप निर्धारण का। प्रकटतः 'रामकहानी-सीताराम' अपने अंग्रेजी अनुवाद सीताराम डायरी के कारण एक सिपाही के फौजी अनुभवों का विवरण लगता है। मगर सीताराम ने अपनी कहानी बचपन से शुरू की और फौज की नौकरी के बाद के वाकयों तक उसका विस्तार किया। इसी तरह से विष्णुभट्ट ने भी अपने जन्म के समय की पारिवारिक परिस्थितियों का हवाला देते हुए कथानक को आगे बढ़ाया। तो इन दोनों किताबों को क्या माना जाए, आत्मकथा या संस्मरण? हालांकि दोनों किताबों का रूपांतरण हिंदी में करने वाले पत्रकार मधुकर उपाध्याय की मानें तो ये आत्मकथाएं ही हैं, क्योंकि इनमें जीवन क्रम नजर आता है।

संस्मरण और आत्मकथा का यह द्वंद्व रसेल की डायरी में नहीं है। रसेल क्रीमिया के युद्ध का हवाला देते हुए अपने भारत के युद्ध की कवरेज के असाइनमेंट का हवाला देते हैं। रसेल कहीं भी वर्णन में अपने व्यक्तिगत ब्यौरों को नहीं आने देते। मसलन, जब उन्हें 1858 में वापस लौटना होता है, तो वे सिर्फ इतना ही लिखते हैं कि किन्हीं पारिवारिक कारणों से मुझे वापस लौटना पड़ा। रसेल नहीं बताते कि ये पारिवारिक कारण क्या थे? जाहिर है कि आधुनिकता बोध लिए उनके अंदर का लेखक घटनाओं के वर्णन के दौरान हर संभव तरीके से वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) रहना चाहता था और उनका मानना था कि व्यक्तिगत ब्यौरे इस उद्देश्य में बाधा डाल सकते हैं। मगर भट्ट और सीताराम की तो अपनी ही कहानी उनके ब्यौरे थे और वही इतिहास की साखी भी। रसेल पूरे घटनाक्रम के दौरान सिर्फ प्रेक्षक थे, मगर सीताराम और भट्ट सिर्फ प्रेक्षक या दर्शक नहीं बल्कि भोक्ता और इसी अर्थ में सक्रिय भी थे। जाहिर है कि उनसे किसी भी किस्म की निरपेक्षता या आधुनिक भावबोध के ही पदबंध का एक बार फिर इस्तेमाल करें तो वस्तुनिष्ठता (ऑब्जेक्टिविटी) की उम्मीद नहीं की जा सकती थी।

भारतीय विवरणों के शिल्प पर विचार करते समय युवा आलोचक पंकज चतुर्वेदी की बात पर गौर करने से कुछ प्रस्थान बिंदु मुहैया होते हैं। अपनी किताब *आत्मकथा की संस्कृति* में वह लिखते हैं कि 'पूरी भारतीय परंपरा में आत्म के सच को उघाड़कर रख देने का नैतिक साहस कमोबेश गायब ही है। अतीत में आत्म को नश्वर माना गया तो आधुनिक

काल तक आते आते इसमें आत्मबद्धता और आत्ममुग्धता आ गई।'[1]

इस शोध में इस्तेमाल किए गए भारतीय संदर्भ ग्रंथों यानी रामकहानी-सीताराम और विष्णुभट्ट की आत्मकथा में किन्हीं अर्थों में आत्ममुग्धता और आत्मबद्धता होते हुए भी एक किस्म की नैतिक ईमानदारी भी नजर आती है, जो इन विवरणों को एक बेहतर आत्मकथा ही नहीं, बेहतर ऐतिहासिक स्रोत में भी तब्दील करती है। इन लेखकों के रचनाकाल को देखते हुए, जब अवधी में गद्य की परंपरा या मराठी में बखर (किस्सा) लिखने की परंपरा न के बराबर थी, यह प्रयास और भी सराहनीय लगता है। इस बारे में मधुकर उपाध्याय लिखते हैं कि 'विष्णुभट्ट का व्यक्तित्व आकर्षक है। किताब में वह एक तेजस्वी, प्रतिभाशाली और हर संकट से निकलने वाले व्यक्ति के रूप में उभरते हैं। घर की गरीबी और कर्ज के बोझ से मुक्ति की आकांक्षा के साथ निकले विष्णुभट्ट पूरे रास्ते इतिहास समेटे चले गए।'[2] इसी इतिहास की प्रस्तुत शोध में विवेचना की गई।. यह इतिहास आधुनिक भावबोध वालों को भले ही मानकीकृत रूप में इतिहास न लगे, मगर इसके समय ने ही इसे एक ऐतिहासिक स्रोत के रूप में महत्व प्रदान कर दिया है। इस बारे में पंकज ठीक ही लिखते हैं कि 'आत्मकथा का विग्रह करें तो पायेंगे कि आत्म अपना है और कथा सबकी है। दोनों के संघात से वह चीज तैयार होती है, जिसे हम इतिहास का मर्म कह सकते हैं।'[3]

आत्मकथा की संरचना में एक लोकोन्मुख बहसधर्मिता निहित है। वह अपने मिजाज से ही अभिजात्य के विरुद्ध है क्योंकि उसमें अपने अंतरंग का निश्छल उदघाटन होता है। यह कसौटी विष्णुभट्ट की आत्मकथा और रामकहानी-सीताराम दोनों पर ही लागू होती है। अभिजात्य इतिहास दृष्टि ने गदर के विश्लेषण के दौरान उस समय के लोकजीवन और विश्वासों पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। मगर सीताराम और भट्ट ने गदर या उसके पहले की फौजी घटनाओं का विश्लेषण करते हुए लोक का भरपूर अंकन किया। फिर चाहे वह ग्राम समाज की परिपाटी हो या फिरंगियों को लेकर पनपे मिथ।

पंकज का मानना है कि 'एक आधुनिक वैज्ञानिक चेतना के बगैर आत्मकथा नहीं लिखी जा सकती। हमारा वर्तमान आत्म हमारे अतीतकालीन विचारों और कर्मों का परिणाम होता है। इसका एक इतिहास है, इसलिए इसे ऐतिहासिक अर्थों में ही समझा जा सकता है। इसके अलावा आत्मकथा में कई बार आत्म महत्वपूर्ण नहीं रह जाता, उसके बहाने समय और समाज की की कहानी कही जाती है, उनके विकास क्रम का चित्रण किया जाता है। इसलिए आत्मकथा में कथातत्व और ऐतिहासिकता दोनों ही एक-दूसरे से बराबर गुंथे हुए रहते हैं, खास तौर पर यदि उसके आख्यान का फलक विस्तृत हो। यों

कथा अपने मिजाज से वैयक्तिक और चयनधर्मी होती है, जबकि इतिहास अनिवार्य रूप से बहुमुखी और वस्तुपरक होता है। इसीलिए आत्मकथा का एक पैर साहित्य में और दूसरा इतिहास में होता है।'[4]

तीनों ही किताबों में साहित्य और इतिहास का यह स्वरूप लगातार नजर आता है। मगर इसके साहित्यिक स्वरूप पर विचार करते समय हमें विवेच्य किताबों की सीमाओं का भी ध्यान रखना होगा। मसलन रसेल का जो संस्करण इस्तेमाल किया गया है, वह संपादित है। इस किताब के संपादक एडवर्ड्स लिखते हैं कि 'रसेल की डायरी दो सौ हजार शब्दों में फैली हुई है। मैंने इसमें से कई रोचक विवरणों को निकाल दिया है। इसका मकसद यही रहा कि दो खंडों में फैली इस डायरी को प्रकाशन की दृष्टि से बेहतर रूप दिया जा सके। इसके अलावा किताब को युक्तिसंगत बनाने के लिए कई प्रचलित स्थानों या नामों की स्पेलिंग में भी सुधार किया गया है।'[5] इस विवरण से साफ है कि किताब को संपादित करते इसे प्रकाशन की दृष्टि से बेहतर बनाने का दबाव काम कर रहा था। जिन रोचक विवरणों को संपादित किया है, संभव है कि वे लोक के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहे हों।

इसी तरह से भट्ट की आत्मकथा पढ़ते समय यह ध्यान रखना होगा कि यह किताब मोडी लिपि में लिखी गई थी। इस लिपि की विशेषता बताते हुए मधुकर लिखते हैं कि 'माझा प्रवास की मोडी लिपि की कुछ विचित्रताएं हैं। मसलन मोडी में वाक्य नहीं होते, पैरा नहीं होता। एक लंबा विवरण, जिसमें पूर्ण विराम नहीं आता। पोतदार ने उसे व्याकरण की दृष्टि से पठनीय बनाया। शब्द नहीं बदले। ..भट्ट ने अपनी किताब में न औपचारिक अध्याय बनाए, न ही पृष्ट संख्या डाली। किताब को छह खंडों में बांटा पर शीर्षक नहीं लगाए।'[6] जाहिर है कि इतनी सारी संरचनागत जटिलताओं को जब मधुकर ने साधने की कोशिश की तो अनुवाद में उनके अपने पत्रकार व्यक्तित्व की भी भरपूर छाप पड़ी। एक पत्रकार के तौर पर मधुकर की विशेषता है छोटे-छोटे वाक्य लिख कर वर्णन करने की। दरअसल पत्रकारिता का मूल सबक भी यही है कि सरल भाषा में बात की जाए, ताकि आम लोगों को अर्थ ग्रहण में दिक्कत न हो। मसलन, झांसी के युद्ध का यह दृश्य देखिए। 'युद्ध के लिए बाईसाहब की तैयारी पूरी थी। मोर्चेबंदी हो गई थी। तोपें लगा दी गई थीं। सब बुर्जों पर तोपें चढ़ाई गईं। सिपाहियों ने तलवारें चमकाईं।'[7] छोटे वाक्यों के जरिए युद्ध की एक बेहतर और चित्रात्मक शैली से अनुप्राणित तस्वीर खींची गई है।

सीताराम की कहानी के साथ तो और भी बड़ी समस्या है। अभी तक इस किताब की

अवधी में लिखी मूल प्रति ही नहीं मिल पाई है। संभवतः इसी कारण से हिंदी समाज में इसे स्वीकारने के प्रति एक हिचक का भाव भी है। इसे जानते हुए भी मधुकर ने किताब की प्रामाणिकता स्थापित करने के लिए तमाम विवादों के साथ अनेक अंग्रेज इतिहासकारों के बयान भी दिए हैं, जो बताते हैं कि किताब कभी अवधी में भी मौजूद रही थी। इसके अलावा मधुकर एक और ऐसा वाकया बताते हैं, जिससे साबित होता है कि यह किताब अवधी भाषा में मौजूद रही थी। '1915 में एक पुराने आईसीएस अफसर सर गिरजाशंकर वाजपेयी का इंटरव्यू हो रहा था। इंटरव्यू बोर्ड में भाषाविद जॉर्ज ग्रियर्सन भी थे, जिन्होंने वाजपेयी के विवरण में यह देखने के बाद कि वह तिलोई गांव के हैं, उनसे पूछा कि वह सीताराम पांडे के बारे में क्या जानते हैं। जवाब में गिरजाशंकर वाजपेयी ने कहा कि उन्होंने सीताराम पांडे की किताब मूल अवधी में पढ़ी है क्योंकि उसकी एक प्रति सीताराम पांडे ने उनके दादा को दी थी। वाजपेयी परिवार के सदस्यों को अब इस पांडुलिपि के बारे में कोई जानकारी नहीं है।'[8]

मूल प्रति न मिलने की वजह से मधुकर उपाध्याय ने अपने लंदन प्रवास के दौरान अंग्रेजी से अवधी में दोबारा अनुवाद का काम शुरू किया। चूंकि किताब को अंग्रेजी में रूपांतरित करने वाले सीताराम के अफसर कर्नल नॉरगेट ने मुश्किल अवधी शब्दों को परिशिष्ट में जगह दी थी, इसलिए मधुकर को इससे भी मदद मिली। इसके अलावा मधुकर अवध के गांवों में बुजुर्गों के पास गए, ताकि अपने अनुवाद में इस्तेमाल की गई अवधी की परख हो सके। बुजुर्गों के मुताबिक बलवे के वक्त अवध में ऐसी ही बोली बोली जाती थी। जाहिर है कि रूपांतरण के बाद किताब की शक्ल भले ही बदल गई हो, मगर आत्मा अक्षुण्ण रही और यही बात इस किताब को साहित्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण बनाती है। साहित्य के लिहाज से इन अर्थों में कि भारतेंदु मंडल के प्रयासों से पहले भी अवधी बोली में गद्य की रचना की गई और इतिहास के लिहाज से इन अर्थों में कि यह अब तक सामने आई किसी सिपाही की एकमात्र आत्मकथा है। जाहिर है कि नीचे से इतिहास पर नजर दौड़ाने वाली सबआल्टर्न दृष्टि हो या गदर पर हालिया शोधों और बहसों के बाद विकसित हुई सर्वसमावेशी दृष्टि, दोनों ही लिहाज से किताब महत्वपूर्ण हो जाती है।

# संस्मरणों की भाषा

पत्रकारिता का पहला पाठ यही होता है कि किसी भी विषय को इस तरह से प्रस्तुत किया जाए कि ज्यादा से ज्यादा लोग उसको पढ़ और समझ सकें। विलियम हावर्ड रसेल ने अपनी डायरी में इस बात का भरपूर ख्याल रखा है। उनकी भाषा जीवंत, स्थानीय बोली के शब्दों से सजी और हास-परिहास और नाटकीयता के लिए गुंजाइश पैदा करती हुई है।

अपने विवरण में रसेल स्थानीय शब्दों का जमकर प्रयोग करते हैं। मसलन युद्ध के वर्णन के दौरान वे बागी सिपाहियों के लिए प्रचलित हो चुके कुछ शब्दों, जैसे पुरबिए[9] का प्रयोग करते हैं। गदर की शुरुआत करने वाले बैरकपुर स्थित बंगाल रेजीमेंट के सिपाही मंगल पांडे की वजह से ज्यादातर बागियों को अंग्रेजी लश्करों में *पांडीज* कहा जाता था। रसेल भी कई जगह खास तौर पर लखनऊ पर कब्जे की लड़ाई के दौरान पांडीज[10] शब्द का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा पालकी और डोली [11], पंखावाला[12], जागीर और जनाना[13] जैसे हिंदी के शब्दों का रसेल ज्यों का त्यों प्रयोग करते हैं।

रसेल की भाषा वर्ण्य विषय के हिसाब से अपने तेवर बदलती है। जब कहीं वह किसी दृश्य का चित्र खींच रहे होते हैं तो उनकी भाषा में काव्यात्मक लय आ जाती है। लश्कर के आगे बढ़ने के दृश्य का विवरण देते हुए वह लिखते हैं कि 'जैसे-जैसे चंद्रमा स्वर्ग में डूबता गया, मार्च करती हुई सिपाहियों की पंक्ति ऐसे दिखने लगी जैसे किसी दूसरी दुनिया का सपना नजर आ रहा हो। ऐसा लग रहा था गोया किसी थिएटर के मंच से कोई दृश्य उठाकर सामने रख दिया गया हो।'[14]

इसके अलावा रसेल की भाषा कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का सहारा भी लेती चलती है। मृत बागियों का जिक्र करते हुए रसेल लिखते हैं कि 'मैं चार्ल्स नवम के उस कथन से सहमत नहीं हो सकता था, जिसके मुताबिक मृत शत्रु की गंध हमेशा मीठी ही लगती है।'[15]

इसी तरह सीताराम भी सूत्रात्मक शैली में दूसरों के कथन को बतौर निष्कर्ष इस्तेमाल करते हैं। सीताराम एक प्रसंग में लिखते हैं कि 'पंडित दिलीप राम मुझसे अक्सर कहा करते थे कि बेटा औरतों की सलाह पर भरोसा करना चाहिए। वे बर्फ की तरह होती हैं। सुबह एकदम पक्की और ठोस। दिन निकलने पर गल जाती हैं।'[16]

रसेल के विवरण की एक खासियत इसकी जीवंतता है। चाहे लखनऊ पर कब्जे का विवरण हो या फिर दिल्ली में लाल किले में कैद मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर से मुलाकात का ब्यौरा, हर जगह इतनी तफसील के साथ माहौल को दर्ज किया गया है कि पाठक एकबारगी उन सभी दृश्यों को अपने सामने उभरते देखता है, जिनके बारे में रसेल बात कर रहे होते हैं।

लश्करों में रहने के दौरान रसेल की प्रायः अधिकारियों से जंग के मोर्चे के बारे में बात होती रहती थी। इसका विवरण देने के दौरान रसेल का हास अपने चरम पर होता है। मसलन, जब लखनऊ पर रॉकेटों से हमला किया जाने लगा तो रसेल ने एक अंग्रेज अधिकारी से पूछा कि 'आज रॉकेट कैसा कमाल दिखा रहे हैं, इस पर अधिकारी ने जवाब दिया कि वेल, जैसा कि आप जानते हैं, रॉकेट रॉकेट होते हैं। हम उन्हें फायर करते वक्त जितने डरे हुए होते हैं, अगर दुश्मन उसका आधा भी फायर होने के बाद डर जाएं तो समझ लीजिए कि रॉकेट अपना काम बखूबी निभा रहे हैं।'[17]

रामकहानी-सीताराम की भाषा पर बात करते समय हम शब्दों के बजाय शिल्प की बिना पर मूल्यांकन करना होगा। कारण, रामकहानी सीताराम का मूल संस्करण उपलब्ध नहीं है। तो फिलवक्त हिंदीभाषी जो संस्करण पढ़ रहे हैं, वह मूल का दूसरा-तीसरा अनुवाद है। कहा जा सकता है कि अनुवाद की वजह से शब्दों के अर्थ ग्रहण में भले ही कुछ दिक्कत आती हो, लेकिन मूल ढांचा तो वही रहता है। लेकिन रामकहानी सीताराम के संदर्भ में यह साधारणीकरण काम करता नहीं दिखता। सीताराम के अफसर कर्नल जेम्स नॉरगेट जिनके कहने पर उन्होने अपनी आपबीती लिखी, सीताराम डायरी (किताब के अंग्रेजी संस्करण या अनुवाद) की भूमिका में लिखते हैं कि 'बहुत सारे विचारों या वाक्यों का साहित्यिक अनुवाद करने के बजाय मैंने साधारण अर्थ दिए हैं।'[18]

सीताराम पेशेवर लेखक नहीं थे। जाहिर है कि बड़ा किस्सागो होने पर ही जब उन्हें किताब की शक्ल देने की बात आई होगी, तो उन्होंने अपने समय समाज में मौजूद और उपलब्ध तरीकों का ही अनुशीलन करने का प्रयास किया होगा। लेकिन उस समय तक अवधी में गद्य लेखन की कोई परंपरा नहीं थी। कम से कम हमारा साहित्य और इतिहासबोध तो यही बताता है। इसलिए सीताराम की कहानी की भाषा पर आलोचनात्मक रुख अपनाते समय नए प्रतिमान गढ़ने की जरूरत आ दिखती है। यह बात विष्णुभट्ट की आत्मकथा पर भी लागू होती है।

हालांकि दोनों भारतीयों के द्वारा लिखी गई किताबों की भाषा पर सीधे तौर पर विचार

करना मुनासिब नहीं जान पड़ता क्योंकि हिंदी में इनके अनुवाद ही उपलब्ध हैं, मगर अनुवादों में भी ठेठ देसज शब्दों का ज्यों का त्यों इस्तेमाल किया गया है। यह सिर्फ स्थानीय भाषा का निदर्शन ही नहीं कराता बल्कि उस समय के सौंदर्यबोध से भी अवगत कराता है।

मसलन, सीताराम जब फौज में शामिल होने के लिए अपने मामा के साथ गांव से रवाना होते हैं तो रास्ते में मामा के कुछ दोस्त भी उनके साथ हो लेते हैं। 'इनमें से एक थे देवनारायण, जिनके पास एक तमंचा था। उन्होंने इसका नाम *सेरबच्चा* रखा था।'[19] जाहिर है कि इस शब्द से मनोविनोद का आभास कराता एक कौतुक उत्पन्न होता है। उसी तरह से सिपाहियों के बीच लश्कर से जुड़े कुछ अंग्रेजी शब्द भी बदलकर देसी हो गए थे। मसलन, एडजुटेंट जनरल को सिपाही 'अजूटन साहब'[20] बोलते थे। इसी तरह टाइट फिटिंग वाले कोट को 'कसमसौआ'[21] ( कसा हुआ) बोला जाता था।

सीताराम के लेखन में तत्कालीन उपमाएं और रूपक भी बखूबी नजर आते हैं। बुंदेलखंड के घुड़सवार लुटेरों (पिंडारियों) का जिक्र करते हुए सीताराम लिखते हैं कि 'हिंदुस्तान में उस समय पाताल लोक के राक्षसों का राज था।'[22] जाहिर है कि उस समय के उत्तर भारतीय ग्रामीण अंचल में, जिसके सांस्कृतिक सौंदर्यबोध की निर्मिति रामचरित मानस के आख्यान से हुई है, आतंक का एकमात्र पर्याय राक्षस ही थे।

गांव के लोगों के जीवन में आदर्श के नाम पर या तो स्थानीय क्षत्रप होते थे या फिर उनके आराध्य ईश्वर। शक्ति की कल्पना बस इन्हीं पर आकर ठिठक जाती थी। जब सीताराम पांडे ने अपनी रेजीमेंट में एक लंबे-तगड़े अफसर को देखा तो उनके दिमाग में हनुमान जी आए। वह लिखते हैं कि 'जैसा साहब मैं सोचा करता था, ठीक वैसा। उसका नाम बर्रमपील था। वह छह फुट तीन इंच लंबा था, बहुत ताकतवर था और उसका सीना हनुमान जी की तरह चौड़ा था।'[23]

इसी तरह के पहाड़ी जंगल जाति के लोगों की सोच का हवाला देते हुए सीताराम लिखते हैं कि 'कई पहाड़ी जंगल जाति के लोग जवरल जैकम को हजरत मोहम्मद के बाद सबसे बड़े आदमी की तरह देखते थे।'[24]

भट्ट की आत्मकथा में किसी भाषाई वैशिष्ट्य को तलाशना, अनुवाद की वजह से खासा मुश्किल जान पड़ता है। लेकिन पुरोहिताई के पेशे से जुड़े होने के कारण उनके विवरणों में खालिस संस्कृत और कर्मकांड से जुड़े शब्द आते हैं। *सूर्ययंत्र* या *सदावर्त* जैसे शब्दों का

अर्थ जानने के लिए संस्कृत शब्दकोष का सहारा लेना जरूरी हो जाता है। हां अगर उपाध्याय की अनुवाद में इस्तेमाल की गई भाषा-शैली की बात की जाए तो उन्होंने सरल शब्दों और छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। यहां भी यह कहा जा सकता है कि अनुवाद पत्रकारिता के मूल सिद्धांतों के अनुरूप किया गया है, जो वर्ण्य विषय को छोटे-छोटे वाक्यों में पेश करने की हिदायत देता है।

स्मृतियों का शिल्प

शिल्प महज किसी किताब का वर्णनगत ढांचा ही नहीं होता, बल्कि कई मायनों में यह लेखक की अंतर्दृष्टि को जांचने का एक जरिया भी बन जाता है। इस शोध प्रबंध में जिन तीन किताबों का संदर्भ प्रमुख रूप से लिया गया है, वे इस कसौटी पर परखी जाएं तो साफ नजर आता है कि लेखकों ने अपने तईं देश-समाज का हवाला देते हुए वर्णनगत शुष्कता को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। किस्सागोई उनके ब्यौरों का प्रधान तत्व है। इसके लिए जरूरी है कि घटनाओं को महज तथ्य मुहैया कराने वाला स्रोत न माना जाए। तीनों ही किताबों में कहीं नाटकीयता, तो कहीं हास नजर आता है। इस क्रम में लेखक अपनी अज्ञानता या अपने साथ हुए हादसों का जिक्र करने से भी परहेज नहीं करते। मसलन, एक बार कानपुर से लखनऊ की यात्रा के दौरान रसेल का घोड़ा बेकाबू हो जाता है। सरपट रफ्तार से भागता घोड़ा आखिर में जाकर एक खड्ड में गिर जाता है। रसेल अपनी जान की सलामती देखकर राहत महसूस करते हैं। इस घटना का ब्यौरा देते हुए रसेल बाकायदा उन मनोभावों का जिक्र करते हैं, जिनसे वे दो-चार हुए। बकौल रसेल 'मैं खड्ड में गिरने के बाद इतना ज्यादा आतंकित हो चुका था, कि मुझे बाहर निकालने वाले सिपाहियों के सवालों का बमुश्किल जवाब दे सका। मुझे बेहद अचरज हुआ कि इस एक्सिडेंट के बावजूद मेरी सभी हड्डियां सही सलामत थीं।'[25]

किस्सागोई रसेल के विवरणों की जान है। किस्सागो सिर्फ खुद के द्वारा देखे गए सच पर ही आधारित नहीं होते, वरन दूसरों के द्वारा सुनाए गए किस्सों को भी अपने विवरणों का हिस्सा बनाते हैं। ऐसे ही एक किस्से का जिक्र करते हुए रसेल बताते हैं कि कैसे 'बागी सिपाही अंग्रेज फौज का सामना करते हुए एक मकान की छत से लगातार फायरिंग कर रहे थे। अंग्रेजी कमांडर के उन्हें सरेंडर करने की मोहलत देने पर सभी सिपाही एक एक कर बाहर निकलते हैं। उन्हें निशस्त्र कर एक दीवार के सामने खड़ा कर दिया जाता है और कुछ ही मिनटों में सिख सिपाही उन्हें हमेशा के लिए खामोश कर देते हैं।'[26]

सीताराम को किस्सागोई का खूब शौक था। फौज में रहने के कारण कई जगह घूमने से मिले अनुभव को बढ़ा-चढ़ाकर गांव की चौपाल पर बताने का शौक। उनकी किताब में भी

यही शैली दिखती है। सीताराम खुद भी लिखते हैं कि 'गांव में मेरी यह इच्छा भी पूरी हो गई कि मैं मामा की तरह चबूतरे पर बैठकर गांववालों को किस्सा सुनाऊं और गप्प मारूं।'[27]

भट्ट भी गदर के दौरान हुई घटनाओं को एक लंबे सिलसिलेवार किस्से की तर्ज पर पेश करते हैं। झांसी में रहने के दौरान वे वहां के कुछ पुराने वाकयात का भी हवाला देते हैं ताकि नगर के चरित्र पर कुछ बात की जा सके। ऐसा ही एक किस्सा नारायण शास्त्री नाम के ब्राह्मण का एक नीची जाति की कन्या से प्रेम से जुड़ा हुआ है। इस किस्से को संक्षेप में सुनाकर भट्ट खालिस किस्सागो की तरह बात का एक सिरा अनंत काल के लिए छोड़ते हुए कहते हैं कि 'किस्सा लंबा है, लेकिन ज्यादा क्या लिखूं।'[28] अपने अयोध्या प्रवास के दौरान भट्ट सैकड़ों साल पहले की यात्रा करते हुए राजा विक्रम से जुड़ी घटनाओं का हवाला देते अयोध्या के भूत, वर्तमान का पत्रा बांचते हैं।[29]

गरज यह कि किसी भी जगह की आबोहवा पर विचार करते समय वहां पहले से प्रचलित जनविश्वासों के बारे में भी बात की जाए। यह शैली भट्ट के लेखन में कुछ ज्यादा ही दिखाई देती है। पुरोहिताई का पेशा होने के कारण उनके तमाम कार्य भी ऐसे ही विश्वासों से संचालित होते थे और अगर गौर किया जाए तो गुढ़ाड्य के समय से चली आ रही कथा तत्व की भारतीय परंपरा का भी यह विस्तार ही लगते हैं। अपने समय की बात बात करते-करते अतीत में उनके सूत्र तलाशना।

संस्मरण शैली में लिखी गई विवेच्य किताबों की सबसे बड़ी खासियत है शब्द चित्रात्मकता। देखे गए मंजर को इस तरह से प्रस्तुत करना कि सजीव खाका पाठक के दिमाग में खिंच जाए। मसलन, जनरल मैंसफील्ड की कदकाठी का वर्णन करते हुए रसेल उनके व्यक्तित्व का शब्दचित्र खींच देते हैं। वह लिखते हैं कि 'जनरल नक्शों, कागजों और डाक से आए दस्तावेजों से घिरे हुए थे। उनके चेहरे का एक-एक नैननक्श उनके चरित्र को उघाड़ रहा था। इतनी बड़ी पदवी तक पहुंचने के बाद भी वे अपनी 40-45 साल की उम्र के हिसाब से पर्याप्त चुस्त दिखते थे। उनकी साफ आंखें सालों काम देने के बाद कुछ कमजोर हो चली थीं, जिसके कारण उन्हें चश्मा लगाना पड़ता था। आगे की तरफ उभरी ठोड़ी, पीछे की तरफ लौटता माथा और चश्मे के पीछे छुपी उनकी आंखें, यह सब मिलाकर जनरल के व्यक्तित्व को एक खास किस्म का रौब मुहैया कराते थे।'[30]

इसी तरह से जब सीताराम अपने एक अफसर के बारे में बताते हैं, तो शब्दों के जरिए उसका पूरा नक्शा ही सामने रख देते हैं। फौज में भर्ती होने के लिए जब सीताराम अपने

मामा के साथ अजूटन साहब के बंगले पर पहुंचते हैं, तो उन्हें सदमा सा लगता है। बकौल सीताराम 'अजूटन अपने बंगले के बरामदे में था। एक बड़ी सी डंडी लिए, नए भरती होने वाले जवानों की नाप लेते हुए। मैंने सोचा था कि वह कोई बुजुर्ग, बड़ी-बड़ी मूछों वाला खतरनाक आदमी होगा। पर निकला उलटा। अजूटन बहुत कम उम्र का था। मेरे जितना लंबा नहीं था और उसकी दाढ़ी-मूंछ नहीं थी। उसका चेहरा बहुत चिकना था और वह मर्द की जगह औरत की तरह ज्यादा लगता था।'[31]

भट्ट भी घटनाओं और व्यक्तित्वों का कलेवर उभारने के लिए इसी शैली का प्रयोग करते हैं। मसलन, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के बारे में बताते हुए वह लिखते हैं कि 'बाई साहब कभी-कभार ही पुरुषों के कपड़े पहनती थीं। पूरी लंबाई के पैजामे और पूरे बाजू की बंडी, जामुनी रंग की। सिर पर टोपी और ऊपर से पगड़ी। कमर में दुपट्टा और दुपट्टे में तलवार। पति का निधन हो गया था इसलिए ज्यादा आभूषण नहीं पहनती थीं। कलाई में सोने की चूड़ियां, गले में मोती का हार और उंगली में हीरे की अंगूठी।'[32]

शब्दचित्रात्मकता के अलावा नाटकीयता एक ऐसा वैशिष्ट्य है, जो तीनों ही किताबों में भरपूर दिखाई देता है। किसी भी किस्से को, चाहे वह सच से संचालित हो या कल्पना से, नाटकीयता का पुट देना खासा जरूरी हो जाता है। एक प्रसंग को बताते-बताते ऐसे मोड़ पर खड़ा कर देना कि पाठक खुद ही चाह पाल ले कि अब इसके बाद क्या हुआ या होगा।

लखनऊ पर कब्जे का जिक्र करते हुए रसेल लिखते हैं कि 'दिलखुशा जाकर मोर्चे का हाल देखने के लिए जब मैं अपने घोड़े पर सवार होकर वहां पहुंचा तो इक्का-दुक्का आते फायर शॉट से बचने के लिए मुझे दीवार का सहारा लेना पड़ा। मोर्चे पर तैनात सिपाही फायरिंग की चपेट में आकर जख्मी हो रहे थे। तभी मेरा घोड़ा भी घायल होकर बिदक गया। मैं दौड़ने में भी माहिर नहीं था।'[33] यहां पर आकर पाठक दृश्य में पूरी तरह बंध जाता है कि फिर क्या हुआ। आगे रसेल बताते हैं कि 'एक सिख सिपाही ने उनके घोड़े की कमान थामी और जमीन पर लोटपोट होने के बाद जब वह उठे तो उन्हें सिख सिपाही की मिट्टी और खून से सनी नाक दिखाई दी।'[34]

सीताराम पांडे अफगान युद्ध के समय बंदी बना लिए गए थे। वहां से भागने की कहानी बयां करते समय उनकी नाटकीय वर्णन शैली अपने चरम पर पहुंचती दिखती है। सीताराम विस्तार से बताते हैं कि कैसे उन्होंने अपना भेष बदला। रास्ते में उनके मालिक का दूसरे शहर से आता कारवां मिला। सीताराम ने तय कर लिया कि पहचाने जाने पर

या तो वह खुद को गोली मार लेंगे या फिर मालिक को मार देंगे। फिर सीताराम बताते हैं कि 'जब मालिक ने पूछा कि किसका काफिला है, तो बगल वाले चरवाहे ने जबाव दिया और उनकी जान बच गई।'[35]

रसेल की तरह ही भारतीय लेखकों में घटनाओं की तार्किकता स्थापित करने का बेतरह शौक था और जब किसी चीज का कारण स्पष्ट नहीं होता तो वे उसे नियति या भाग्य बताते। रसेल की डायरी में इस तरह की चीजें देखने को नहीं मिलतीं। वहां पर कार्य-कारण संबंध तो स्थापित करने की कवायद दिखती है, लेकिन भाग्य और नियति के लिए ज्यादा गुंजाइश नहीं छोड़ी जाती। इस फर्क की सबसे बड़ी वजह तो यही है कि रसेल एक स्थापित पत्रकार थे और लिखने की उनकी अपनी विशिष्ट शैली थी। जबकि विष्णुभट्ट और सीताराम ने अपने जीवन में बस यही एकमात्र किताब लिखी।

सीताराम वाकयात सुनाने के बाद अमूमन उनके अंत में दार्शनिक प्रपत्ति की तरह कुछ निष्कर्ष देना नहीं भूलते। मसलन, ब्राह्मण भोज का जिक्र करते हुए सूबेदार लिखते हैं कि 'किस्मत से कौन लड़ सकता है।'[36] इसी तरह फिरंगी साहबों की लड़ाई का जिक्र करते हुए सीताराम अचरज जताते हैं। फिर अपने तईं निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि साहब लोग लड़ाई को भी काम समझते हैं।

इसी तरह से भट्ट भी प्रायः घटनाओं के विवरण देने के बाद अंत में पात्रों के जरिए या खुद ही एक दार्शनिक सूत्र देने की कवायद करते नजर आते हैं। कालपी में चरखारी का मोर्चा हारकर वापस लौट रही रानी से मुलाकात का भट्ट जिक्र करते हैं। उस घटना का ब्यौरा देते हुए भट्ट लिखते हैं कि 'रानी ने मुझसे कहा कि मुझ विधवा को क्या चाहिए, आधा सेर आटा, धर्म की रक्षा के लिए कर्म कर रही हूं, दुर्भाग्य से यश नहीं मिला।'[37]

सीताराम और भट्ट के शिल्प की एक खासियत मिथकों, विश्वासों और सपनों का भरपूर प्रयोग है। खास तौर पर भट्ट तो कई जगह अपने सपनों का हवाला देते हुए विवरण को आगे बढ़ाते हैं। यह भी खालिस भारतीय कथातत्व की परंपरा है। रसेल भी एक जगह ऐसे ही एक मिथ के साथ तादात्म्य स्थापित करते दिखते हैं। तराई के इलाकों में सेना के अभियान के दौरान एक बार अंग्रेजी लश्कर को भयानक तूफान का सामना करना पड़ता है। इस बारे में रसेल अपनी डायरी में लिखते हैं कि 'मेरा विश्वास है कि अगर यह धूल भरा अंधड़ जितनी देर चला, उसकी आधी देर और चलता, तो हमारी ज्यादातर सेना के लिए हालात भयानक हो गए होते। यह वही शैतानी हवा थी, जिसने आज से ठीक पचपन साल पहले कानपुर की तरफ मार्च कर रही लेक की सेना को लगभग पूरी तरह

से ढंक लिया था। अब यह शैतानी हवा हमारे ऊपर साया थी।'[38]

जाहिर है कि रसेल को हवा के बारे में बात करते समय अतीत की घटनाएं ही याद आईं, जो अंग्रेजी लश्कर में मिथ का रूप धारण कर चुकी थीं। उस समय के दृश्य की भयावहता का वर्णन करने के लिए रसेल ने भी स्मृतियों में बसे आख्यान का सहारा लिया। मगर रसेल के यहां इस तरह के विवरण बार-बार नजर नहीं आते हैं। इसके बजाय वह मानवीय त्रासदियों और व्यवहार के बारे में कहीं ज्यादा बात करते हैं।

# संदर्भ सूची


1 आत्मकथा की संस्कृति, पंकज चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका- पेज 7

2 विष्णुभट्ट की आत्मकथा, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, पेज 12

3 आत्मकथा की संस्कृति, भूमिका, पेज 6

4 आत्मकथा की संस्कृति पेज 19 और 20

5 माई इंडियन म्यूटिनी डायरी, विलियम हावर्ड रसेल, कैसल एंड कंपनी, भूमिका- पेज 7

6 भट्ट, पेज 12

7 भट्ट, पेज 83

8 रामकहानी-सीताराम, अनुवाद- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, पेज 18

9 रसेल, पेज 80 - पुरबिया और पंजाबी शब्द का प्रयोग

'Our auxiliaries, those savage punjabis, would rival the poorbeahs in cruelty if they dared,'

10 रसेल, पेज 79 पांडीज शब्द का प्रयोग कई जगह किया गया है। यह शब्द मंगल पांडे की वजह से प्रचलन में आया, इसके बाद जो भी बंगाल रेजीमेंट का सिपाही अंग्रेजों की मुखालफत कर रहा था, उनके लिए पांडीज शब्द का इस्तेमाल होता था, यह शब्द गदर पर अंग्रेजी विवरणों में बहुतायत में पाया जाता है। रसेल की किताब से एक उदाहरण,

'A chance shot, pandy thinks, may kill the commander-in-chief,.'

11 रसेल, पेज 182, डोली शब्द का प्रयोग-

'I was therefore obliged to hire a palkee or dolly,'

12 रसेल, पेज 168, पंखावाला शब्द का प्रयोग-

'outside kuskus tatties and punkah-walllahs,'

13 रसेल, पेज 169, जागीर और जनाना शब्द का प्रयोग-

'when there came upon them a vision of plunder, conquest, jaghires, grants, treasures, zenanas,'

14 रसेल, पेज 46

15 रसेल, पेज 106

16 सीताराम, पेज 95

17 रसेल, पेज 83

18 सीताराम, प्रिफेस बाई ट्रांसलेटर, पेज 12

19 सीताराम, पेज 27

20 सीताराम, पेज 29

21 सीताराम, पेज 33
22 सीताराम, पेज 47
23 सीताराम, पेज37
24 सीताराम, पेज 79
25 रसेल, पेज 47
26 रसेल, पेज 215
27 सीताराम, पेज 57
28 भट्ट, पेज 73
29 भट्ट,पेज 139
30 रसेल, पेज 32
31 सीताराम, पेज 31
32 भट्ट, पेज 71
33 रसेल, पेज 82
34 रसेल, पेज 82
35 सीताराम, पेज 113
36 सीताराम,पेज 58
37 भट्ट, पेज 102
38 रसेल पेज 158

# उपसंहार

अब बात इस शोध के दौरान हासिल 1857 की समझ या कहें कि निष्कर्षों की। अंग्रेजी राज के भारत में कायम होने की एक बड़ी वजह थी किसी केंद्रीय राजनैतिक सत्ता का अभाव। अपने-अपने इलाकों में उभरे सामंत परस्पर अविश्वास का शिकार थे और इसीलिए प्लासी की लड़ाई से लेकर बक्सर और बाद के तमाम संघर्षों में अंततः अंग्रेजों की ही जीत हुई। विष्णुभट्ट की आत्मकथा पढ़ने के दौरान हमें गदर के दो नायकों रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहब के जीवन और विचारों को जानने में मदद मिलती है। दोनों ही नेता किसी व्यापक राजनीतिक चेतना को अंगीकृत नहीं कर सके। रानी युद्ध की तैयारियों के साथ ही धर्म-कर्म पर भी उतना ही जोर देती रहीं। वहीं नाना साहब ने कानपुर पर कब्जे के बाद दूसरे इलाकों की मदद करने या मदद जुटाने के बजाय पेशवाई का जलसा मनाना ज्यादा जरूरी समझा। अंग्रेजों की खुशकिस्मती रही कि उन्हें सम्मिलित प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा और तमाम इलाकों में एक-एक कर वे बागियों से निपटने में सफल रहे।

मगर सिर्फ इस असफलता की वजह से ही गदर या इसके नेताओं का महत्व कम नहीं हो जाता। बागियों ने अपना पूरा जोर लगाकर अंग्रेजों को उखाड़ फेंकने की कोशिश की और गदर के पीछे के ऐतिहासिक कारण हों या तात्कालिक, सभी उनके इस प्रयास की वैधता का समर्थन करते दिखते हैं।

1857 पर किसी भी शोध में रसेल की माई इंडियन म्यूटिन डायरी का अपना ही महत्व है। रसेल भले ही लश्कर और उसके आस-पास सीमित रहे हों, मगर अपनी तीखी पत्रकारीय दृष्टि के कारण उन्होंने अंग्रेजी राज के अंतर्विरोधों पर जमकर कलम चलाई। उनकी डायरी का अभी तक हिंदी में अनुवाद नहीं हो पाया है। अनुवाद आने पर हिंदी समाज उनके वर्णन और निष्कर्षों पर और जोरदारी से बहस करेगा।

1857 के समय का समाज जाति, धर्म, अंधविश्वास, दैनंदिन जीवन में पोंगापडिताई की बहुतायत से घिरा समाज था। रामकहानी-सीताराम और विष्णुभट्ट की आत्मकथा पढ़ने के दौरान ये बातें बार-बार सामने आती हैं। आज भी इनमें से तमाम कारक आधुनिकता की तरफ चीख-चीखकर बढ़ते भारतीय समाज में मौजूद हैं। भारत से जुड़ी किसी भी संकल्पना के अध्यन में जाति एक महत्वपूर्ण कारक है और इसे वर्ग से अलग कर देखे

जाने की जरूरत भी है। एक अर्से तक भारत में सक्रिय मार्क्सवादी चिंतकों ने जाति के ऊपर वर्ग को तरजीह दी और 90 के दशक के बाद वर्ग को पीछे छोड़कर सिर्फ जाति को तरजीह मिलती दिख रही है। जरूरत इन दोनों के समानांतर मूल्यांकन की है।

विद्रोह की तमाम वजहें गिनाई जाती हैं। सीताराम का विवरण जिस वजह की तरफ सबसे ज्यादा ध्यान दिलाता है, वह है कंपनी बहादुर के धोखे के कारण सिपाहियों में फैला असंतोष। इसके अलावा धरम बिगड़ने का डर और राजस्व की दोषपूर्ण प्रणाली भी गदर की प्रमुख वजहों में से एक हैं। रसेल भी अपनी डायरी में कई जगह किसानों और आम भारतीयों की दुर्दशा का नोटिस लेते हुए ब्रिटिश हुकूमत की तरफ उंगली उठाते हैं।

इतिहास का पहला पाठ करते हुए प्रायः एक सवाल जेहन में आता है कि अगर अंग्रेजी राज इतना ही खराब था तो आजादी 1947 में जाकर क्यों मिली? इस सोच का एक सिरा रामकहानी-सीताराम से जाकर जुड़ता है। इस किताब को पढ़ने के दौरान साफ होता है कि सामंती व्यवस्था सोच में किस तरह का बदलाव कर देती है और क्षत्रप बदलने पर भी यह सोच किस तरह से हावी रहती है। सीताराम न सिर्फ गदर को पगली हवा मानते हैं, बल्कि बार-बार अपने अन्नदाता अंग्रेजों की कृपा की चाह प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सीताराम अपनी पेंशन की चिंता में थे और इस वजह से उन्होंने ऐसी भाषा का इस्तेमाल किया। मगर एक सच यह भी है कि गांधी जी के भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर उभरने से पहले भारतीय जनता प्रशासन के खिलाफ खड़े होने के बारे में सोच भी नहीं पाती थी। उसके लिए राज-काज चलाने वाले माई-बाप की तरह थे और उनकी शक्ति से पार पाना जनता की कल्पना के बाहर की चीज थी।

विवेच्य ग्रंथों के शिल्प की बात करें तो मिथकों के इस्तेमाल और किस्सागोई की शैली की भारतीय कथा परंपरा यहां भी देखी जा सकती है। किस्सागोई की यह शैली हिंदी साहित्य के क्रमशः आगे बढ़ने पर क्षीण होती दिखती है और साहित्य पर विचार कुछ ज्यादा ही हावी होने लगता है। लेकिन हाल के बरसों में एक बार फिर कथातत्व की वापसी होती दिख रही है।

इतिहास सिर्फ दी हुई चीज नहीं होता, बल्कि हर पीढ़ी इसे अपने तईं बनाती भी है। अतीत को जानने का आग्रह किसी नॉस्टेल्जिया से नहीं उपजता, बल्कि यह चेतना के निर्माण का एक महत्वपूर्ण चरण है। इसके लिए जरूरी है कि दिए गए इतिहास से अपने तईं सवाल पूछे जाएं और उनके जवाब तलाशने की कोशिश भी की जाए। प्रस्तुत शोध में इसी विचार के अधीन कुछ सवालों और जवाबों की जोर-आजमाइश की गई है। फिर ये

सवाल ऐसे भी हो सकते हैं कि रानी लक्ष्मीबाई की तमाम मूर्तियों और तस्वीरों में उनकी पीठ पर बच्चे को बंधा हुआ क्यों दिखाया जाता है, जबकि भट्ट के विवरण से हम जानते हैं कि उस समय रानी के दत्तक पुत्र की उम्र 12 साल थी। या फिर ऐसे सवाल भी पूछे जा सकते हैं कि 1857 के विद्रोह पर बात करते समय हिंदी समाज की मनःस्थिति को ध्यान में रखकर विश्लेषण क्यों नहीं हुआ। क्या सिर्फ इसलिए कि हिंदी जाति की अवधारणा रामविलास शर्मा की देन है और इस अवधारणा में तमाम खामियां मौजूद हैं।
अंत में बस इतना ही कि इस शोध की सीमाओं के कारण तमाम महत्वपूर्ण विश्लेषण छूट गए, तमाम ऐसी किताबों पर भरपूर ध्यान नहीं दिया जा सका, जो शोध को और भी समृद्ध करतीं। मगर तीन किताबों के एक-एक शब्द और स्थापना पर विस्तार से बात करने की कोशिश की गई है और इस दौरान एक ही बात बार-बार सामने आई है कि तमाम किंतु-परंतुओं के बावजूद 1857 का संग्राम आधुनिक भारत का पहला स्वतंत्रता संघर्ष था।

# ग्रंथानुक्रमणिका

## आधार ग्रंथ

1. किस्सा-सीताराम ( हिंदी में रूपांतरण *रामकहानी-सीताराम* शीर्षक से), लेखक- सीताराम पांडे, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण- 2007

2. माझा प्रवास (हिंदी में अनुवाद *विष्णुभट्ट की आत्मकथा* शीर्षक से) लेखक- विष्णुभट्ट, अनुवादक- मधुकर उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण- 2007

3. माई इंडियन म्यूटिनी डायरी, लेखक- विलियम हावर्ड रसेल, संपादक- मिशेल एडवर्ड्स, कैसल एंड कंपनी लिमिटेड, क्वीन विक्टोरिया स्ट्रीट, लंदन, संस्करण, 1957

## संदर्भ ग्रंथ

1. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष- संपादक- बिपिन चंद्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, मॉडल टाउन, संस्करण 1996

2. पलासी से विभाजन तक- आधुनिक भारत का इतिहास, लेखक- शेखर बंदोपाध्याय, ओरिएंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हिमायत नगर, हैदराबाद, संस्करण 2007

3. महान विप्लव- 1857 (*द ग्रेट म्यूटिन इंडिया* का हिंदी अनुवाद), लेखक- क्रिस्टोफर हिबर्ट, अनुवादक- किशोर दिवसे, संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 2008

4. 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, संपादक- देवेंद्र चौबे, बद्री नारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2008

5. जासूसों के खुतूत (और दिल्ली हार गई), लेखक - शम्सुल इस्लाम, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2008

6. इतिहास के बारे में, लेखक- लालबहादुर वर्मा, इतिहासबोध प्रकाशन, तेलियर गंज, इलाहाबाद, संस्करण 2003

7. गदर - 1857 (आंखों देखा विवरण), लेखक- मोइनुद्दीन हसन खान, अनुवादक प्रोफेसर अब्दुल हक, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण- 2006

8. 1857 के बागी सिख, लेखक- शम्सुल इस्लाम, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण-2008

9. भारत का मुक्ति संघर्ष, लेखक- अयोध्या सिंह, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण-2008

10. आंखों देखा गदर (माझा प्रवास का हिंदी अनुवाद), अनुवादक- अमृतलाल नागर, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण 2000

11. आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, बिपिन चंद्र, हिंदी माध्यम क्रियान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण 1998

12. आत्मकथा की संस्कृति, पंकज चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

13. The Last mughal- the fall of a dynasty - 1857, william dalrymple, viking, published by penguin group, panchsheel park, new delhi- 2006

14. The partha chatterjee omnibus ( nationalist thought and the colonial world, the nation and its fragments, a possible india), oxford university press, jai singh road, new delhi, edition 1999

15. Rebellion- 1857, edited by p. c. joshi, national book trust, new delhi, edition- 2007

16. Prose of counter insurgency, Ranjit Guha, subaltern studies - 2, Writings on south asian history and societies, oxford university press, delhi, edition 1983

## पत्रिकाएं

1 संवेद- 16, अगस्त- 2007, संपादक- किशन कालजयी, संवेद फाउंडेशन, रोहिणी, नई दिल्ली

2 तदभव-15, जनवरी 2007, संपादक- अखिलेश, इंदिरानगर लखनऊ

3 तदभव-16, जुलाई 2007

4 तदभव-17, जनवरी 2008,

5 उद्भावना-अंक 75, 1857- निरंतरता और परिवर्तन, संपादक- अजेय कुमार, अतिथि संपादक- प्रदीप सक्सेना, शाहदरा, दिल्ली

6 अनभै सांचा, 1857 बगावत का दौर, जुलाई-दिसंबर 2007, संपादक- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, रोहिणी, दिल्ली

7 आलोचना, अप्रैल-जून 2001, प्रधान संपादक- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली

8 मीडिया, 1857 एक पुनर्यात्रा, दूसरा अंक अप्रैल-जून 2007, प्रधान संपादक- शंभूनाथ, अतिथि संपादक- रवींद्र त्रिपाठी, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

9 नया पथ- 1857 पर विशेषांक, मई 2007, संपादक- मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान, वी. पी. हाउस, नई दिल्ली
10 कथा, अंक 12, अक्टूबर 2007, संपादक मार्कण्डेय, कथा, म्योर रोड, इलाहाबाद